अवधूतसिद्धविरचितम्
भक्तिस्तोत्रम्

THE BHAKTISTOTRA OF AVADHŪTASIDDHA



सम्पादक

(स्व०) म० म० डा० गोपीनाथ कविराज

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्

लखनऊ

१९७८

अवधूतसिद्धविरचितम्
भक्तिस्तोत्रम्

(प्रस्तावना, हिन्दी अनुवाद और टिप्पणी सहित)

THE BHAKTISTOTRA OF AVADHŪTASIDDHA

with
Introduction, Hindi translation and Notes



सम्पादक
(स्व०) म० म० डा० गोपीनाथ कविराज

अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
लखनऊ
१९७८

प्रकाशक—
अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्
महात्मा गाँधी मार्ग, हज़रतगंज
लखनऊ–२२६००१
फ़ोन : २ ३ ९ ६ २

प्रथम संस्करण १९७८

मूल्य : ८.५०

मुद्रक—
प्नार मुद्रक
११७, नज़ीराबाद, लखनऊ
फ़ोन : २ ३ ७ ५ ७

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना

लखनऊ के अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद् के पुस्तकालय में, वाराणसी के सरस्वती भवन पुस्तकालय और हिन्दू विश्वविद्यालय के सयाजीराव गायकवाड़ पुस्तकालय में शारदा लिपि के ग्रन्थों का नवीन संग्रह हुआ है, यह सूचना मिलने पर मैंने योगतन्त्र विभाग के व्याख्याता श्री व्रजबल्लभ द्विवेदी को इन संग्रहों का सावधानी से अवलोकन करने के लिये कहा था। उन्होंने मुझे संस्कृत-परिषद् के पुस्तकालय में विद्यमान शारदा लिपि के कतिपय स्तोत्र एवं तन्त्र ग्रन्थों की सूची दी। इनमें से कुछ ग्रन्थों को चुनकर उनकी प्रतिलिपि भिजवाने के लिये मैंने संस्कृत-परिषद् के मन्त्री श्री गोपालचन्द्र सिंह जी को लिखा। उन्होंने उन सभी ग्रंथों की प्रतिलिपि भेजते हुये मुझे लिखा कि इनमें से छोटे ग्रन्थों का प्रकाशन संस्कृत-परिषद् की अनुसन्धान पत्रिका 'ऋतम्' में सम्भव हो सके तो हमें प्रसन्नता होगी। इस प्रस्ताव पर मैंने उनको अपनी स्वीकृति भेज दी। फलस्वरूप अवधूतसिद्ध का यह भक्तिस्तोत्र प्रथमतः विद्वानों के समक्ष उपस्थापित किया जा रहा है।

इसका सम्पादन दो मातृकाओं के आधार पर किया गया है। प्रथम मातृका अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, लखनऊ की तथा दूसरी राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर की है। इस दूसरी मातृका की सूचना भी श्री व्रजबल्लभ द्विवेदी को राजस्थान-यात्रा के प्रसंग में जोधपुर जाने पर मिली। लखनऊ मातृका को टिप्पणियों में 'ल' और जोधपुर मातृका को 'जो' संकेत दिया गया है। इन दोनों मातृकाओं का परिचय इस प्रकार है।

ल०—क्रमसंख्या २३९३, शारदालिपि, आकार १७ × १२.९ ई०, पत्रसंख्या ६, प्रतिपृष्ठ पंक्ति ११, प्रतिपंक्ति अक्षर ३६, लिपिकाल नहीं दिया गया है। देखने में मातृका प्राचीन है और इसके किनारे कटे-फटे तथा कीटदष्ट हैं। इस मातृका में अनुत्तराष्टिका प्रभृति ९ ग्रन्थ हैं और यह भक्तिस्तोत्र इसके १४३-१४८ पत्रों में निबद्ध है। स्तोत्र का आरम्भ–"ओं स्वस्ति ओं नमो भगवते वासुदेवाय" से होता है।

जो०—क्रमसंख्या ११९०६, देवनागरी लिपि, आकार १७ × २५ सें० मी०, पत्रसंख्या ५, प्रतिपृष्ठ पंक्ति २४, प्रतिपंक्ति अक्षर २२, लिपिकाल नहीं दिया गया है। इस मातृका में बोधविलास प्रभृति ग्रन्थ हैं और यह स्तोत्र इसके २२-२६ पत्रों में निबद्ध है। स्तोत्र का आरम्भ "ओं नमो नेत्रनाथाय" से होता है।

भक्तिस्तोत्र का १७ वां और २१ वां श्लोक अभिनवगुप्तकृत परमार्थसार की योगराज-कृत टीका में उद्धृत है।[१] १७ वां श्लोक भोजराज कृत तत्त्वप्रकाश की कुमाररचित टीका में भी उपलब्ध है।[२] अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली की अपनी टीका में ३८ वें श्लोक के "येनामलस्फुरित" इतने अंश को उद्धृत किया है।[३] स्वयं अभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में २९वें श्लोक को उद्धृत किया है।[४] इसी श्लोक का "प्राकाम्यामात्मनि यदा प्रकटीकरोषि व्यक्तीः" इतना अंश ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में भी मिलता है।[५] ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में यहां के ३२वें श्लोक का "अव्याहतस्य भगवान्" इतना अंश उपलब्ध है।[६] यशस्तिलकचम्पू के रचयिता प्रसिद्ध जैनाचार्य सोमदेवसूरि ने भी अपने ग्रन्थ में इस स्तोत्र के ३६ वें श्लोक को दो स्थानों पर[७] और ४६ वें श्लोक को एक स्थल पर[८] उद्धृत किया है।

इतिहासविद् जानते हैं कि काश्मीराभिजन महान् साहित्यिक और आगम दर्शन के मर्मज्ञ मनीषिप्रवर अभिनवगुप्त ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्त और ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विद्यमान थे[९] और कर्णाटाभिजन सोमदेव सूरि ने अपने ग्रन्थ यशस्तिलकचम्पू को सन् ९५९ ई० में पूरा किया था।[१०] काश्मीर से लेकर कर्णाटक तक के विद्वानों के द्वारा उपर्युक्त स्थलों पर आदरपूर्वक स्मरण किये जाने के कारण तथा इस स्तोत्र की उपलब्ध दोनों मातृकाओं में अवधूत नाम के साथ सिद्ध पद के प्रयोग के कारण यह निर्विवाद रूप से मानना पड़ेगा कि अवधूत सिद्ध ईसा की १० वीं शताब्दी के मध्य भाग के पूर्व ही देश के मूर्धन्य मनीषियों में अपना स्थान बना चुके थे।

वेद, पुराण आदि में तो विभिन्न देवी-देवताओं के स्तोत्र उपलब्ध होते ही हैं, साहित्यिक और दार्शनिक स्तोत्र साहित्य उससे कहीं अधिक प्राचीन और विशाल है, किन्तु जैसा कि साहित्य

१—द्रष्टव्य—पृ० ३० एवं पृ० ६२
२—द्रष्टव्य—पृ० ५४
३—द्रष्टव्य—पृ० २२७
४—द्रष्टव्य—भा० २, पृ० १७३
५—द्रष्टव्य—भा० १, पृ० ३३३ (सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला संस्करण)।
६—द्रष्टव्य—भा० ३, पृ० ३२६
७—द्रष्टव्य—भा० २, पृ० २५५, २७२ निर्णयसागर प्रेस, बंबई संस्करण
८—द्रष्टव्य—भा० २, पृ० २५५
९—द्रष्टव्य—डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय—अभिनवगुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ० ९
१०—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, प्रीफेस, पृ० VII

के इतिहास ग्रन्थों में बताया गया है कि वैष्णव आचार्यों और पुराणों में 'जितन्ते' स्तोत्र बहुत प्रसिद्ध है। इसका प्रथम श्लोक महाभारत के शान्तिपर्व के अंश नारायणीयोपाख्यान में मिलता है।[1] वसुबन्धु के अभिधर्मकोश की व्याख्या 'स्फुटार्था' में यशोमित्र ने किसी स्तोत्रकार का यह श्लोक उद्धृत किया है—

न ते प्रायोगिकं किञ्चित् कुशलं कुशलान्तग ।
इच्छामात्रावबद्धा ते यत्र कामावसायिता ॥ (२.४४)

वैष्णव, शैव, जैन, बौद्ध सभी सम्प्रदायों के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा रही है, जिसमें अपने इष्टदेव की स्तुति के व्याज से परपक्ष का निरसन और स्वपक्ष की स्थापना करने वाले उत्कृष्ट स्तोत्रसाहित्य की रचना हुई है। विद्याधिपति के अनुभवस्तोत्र और प्रमाणस्तुति, भट्टप्रद्युम्न का तत्त्वगर्भस्तोत्र, अज्ञातकर्तृक ज्ञानगर्भ स्तोत्र, आगमरहस्य स्तोत्र और रहस्य-स्तोत्र, दिवाकर वत्स का कक्ष्यास्तोत्र, भट्टनारायण की स्तवचिन्तामणि, भट्टनायक, भट्ट दामोदर और राजानक राम के अज्ञातनामा स्तोत्र, भट्ट उत्पल की शिवस्तोत्रावली, शम्भुनाथ का क्रमस्तोत्र, चिद्गगनचन्द्रिका और चिद्विलासस्तव आदि शैव, शाक्त और वैष्णवस्तोत्र; भक्तामर-स्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि जैन स्तोत्र और स्रग्धरास्तोत्र सरीखे बौद्ध स्तोत्र इसी परम्परा की देन हैं। यशस्तिलकचम्पू में हस्तामलकस्तोत्र का यह श्लोक उद्धृत है[2]—

[3]समस्तेषु वस्तुष्वनुस्यूतमेकं समस्तानि वस्तूनि यत्र स्पृशन्ति ।
वियद्वत्सदा शुद्धिमद्यत्स्वरूपं स सिद्धोपलब्धिः स नित्योऽहमात्मा ॥

उत्कृष्ट साहित्यिक और दार्शनिक प्रतिभा की प्रतिस्पर्धा से प्रसूत, विस्तृत कालखण्ड में रचे गये इस विशाल साहित्य को अभी प्रकाश में नहीं लाया जा सका है। इस ओर प्रयत्न अपेक्षित है।

मालूम होता है कि स्तुतिकारों को वसन्ततिलका छन्द ने बहुत आकृष्ट किया था। अवधूत सिद्ध का यह स्तोत्र इसी छन्द में निबद्ध है। भक्तामरस्तोत्र और कल्याणमन्दिरस्तोत्र का भी यही छन्द है। इन दोनों स्तोत्रों के सम्बन्ध में हम आगे चर्चा करेंगे। उत्पल वैष्णव की स्पन्द-

---

१—अध्याय ३३६, श्लोक ४४ गीताप्रेस, गोरखपुर संस्करण।
२—द्रष्टव्य—भा० २, पृ० २५४, निर्णयसागर संस्करण।
३—हस्तामलकस्तोत्र का यह तेरहवां श्लोक है। "शुद्धमच्छस्वरूपं स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽह-मात्मा" यह पाठ वहां उत्तरार्ध का है।

प्रदीपिका में आगमरहस्यस्तोत्र के कुछ श्लोक उपलब्ध होते हैं[1]। उनका भी यही छन्द है। वहां का निम्नलिखित श्लोक अन्यत्र भी उपलब्ध है[2]—

येऽपीश्वरं व्यपदिशन्ति निमित्तहेतुं दत्तस्तिलाञ्जलिरमीभिरिहेशितायै।
अन्यांङ्गतोपगमनेन वशीकृतस्य कामीश्वरस्थितिममी बत संगिरन्ते॥

इस श्लोक को और यहां के अन्य श्लोकों को भी देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं यह स्तोत्र भी अवधूत सिद्ध का ही तो नहीं है।

यशस्तिलकचम्पू में गज की स्तुति में कुछ श्लोक इसी छन्द में उपलब्ध होते हैं[3]। वहां का निम्न श्लोक अवधूत सिद्धके मंगलश्लोक से तुलनीय हैं:—

सामोद्भवाय शुभलक्षणलक्षिताय दिव्यात्मने सकलदेवनिकेतनाय।
कल्याणमङ्गलमहोत्सवकारणाय तुभ्यं नमः करिवराय वराय नित्यम्॥

इस पद्य पर स्पष्ट ही अवधूत की छाप दृष्टिगोचर होती है। दुर्गासप्तशती के चतुर्थाध्याय की शक्रादिस्तुति, स्कन्दपुराण काशीखण्ड की ढुण्ढिराज गणेश की स्तुति[4] और देवीभागवत की विष्णुकृत देवीस्तुति[5] भी इसी छन्द में है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इष्टदेव की स्तुति के लिये वसन्ततिलका छन्द न केवल स्तुतिकारों में अपितु पुराण साहित्य में भी बहुत प्रचलित रहा है।

हमने ऊपर बताया है कि भक्तामरस्तोत्र और कल्याणमन्दिरस्तोत्र की रचना भी इसी छन्द में हुई है। इसके अतिरिक्त इन स्तोत्रों में अन्य समानतायें भी हैं, जैसे कि स्तोत्र के अन्त में प्रत्येक स्तोत्रकार ने अपने नाम का निर्देश किया है। स्तोत्र के प्रारम्भ में इष्टदेव की वन्दना के बाद अपने लिये विगतत्रप, हतत्रप, जडाशय आदि शब्दों का प्रयोग करते हुये विनीत भाव से बताया गया है कि यह सच है कि आपकी स्तुति देवगुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते, तदनन्तर भी हमारा यह कार्य धृष्टता ही कहा जायगा। मध्य मध्य में पदावली अथवा भावों में अनेक स्थलों पर तीनों स्तोत्रों में समानता मिलती है। इष्टदेव का गुणगान करने के बाद अन्तिम श्लोकों में आत्मनिवेदन करते हुये स्तोत्र की फलस्तुति पढ़ी गई है। इन समानताओं

———————

१—द्रष्टव्य—तन्त्रसंग्रह, प्रथम भाग, पृ० १०० संस्कृत विश्वविद्यालय प्रकाशन।
२—स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत—क्षेमराजकृत, भा० ६, पृ० ४
३—द्रष्टव्य—भा० १, पृ० ३०० निर्णयसागर प्रेस, बंबई संस्करण।
४—द्रष्टव्य—अध्याय ५७, श्लोक २६-४५
५—द्रष्टव्य—स्कन्द ३, अध्याय ४, श्लोक ३०-४८

को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि ये स्तोत्रकार एक दूसरे से परिचित थे। भक्तामरस्तोत्र भक्तिस्तोत्र के अधिक निकट है और कल्याणमन्दिरस्तोत्र भक्तामरस्तोत्र के। इन तीनों स्तोत्रकारों में प्राचीनतम कौन है? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

भक्तामरस्तोत्र और कल्याणमन्दिरस्तोत्र का प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बंबई से काव्य-माला के सप्तम गुच्छक के अन्तर्गत हुआ था। इनके अन्य संस्करण भी हो चुके हैं। प्रसिद्धि के आधार पर सिद्धसेन दिवाकर को कल्याणमन्दिरस्तोत्र का रचयिता माना गया है[1]। इस स्तोत्र के अन्त में स्तोत्रकार ने अपना नाम कुमुदचन्द्र दिया है। इस प्रसंग में इस स्तोत्र के टीकाकार का कहना है कि यह नाम उनको दीक्षा के अवसर पर गुरु का दिया हुआ है। प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर को यदि इस स्तोत्र का रचयिता माना जाता है तो यह मानना पड़ेगा कि इस स्तोत्र की रचना भक्तामरस्तोत्र के पहले हुई है, किन्तु ऐतिहासिक इस बात से सहमत नहीं हैं। इतिहासविद् डा० ए० बी० कीथ कहना है कि कल्याणमन्दिरस्तोत्र भक्तामरस्तोत्र के अनुकरण पर लिखा गया है[2]। कल्याणमन्दिरस्तोत्र की अपेक्षा भक्तामरस्तोत्र की भाषा अवश्य ही प्रसाद गुण युक्त है। संस्कृत विश्वविद्यालय के जैनदर्शन के प्राध्यापक श्री अमृतलाल जैन ने अभी भक्तामरस्तोत्र का नया संस्करण प्रकाशित कराया है। श्री अमृतलाल जी ने आचार्य कुमुदचन्द्र की अवस्थिति राजा सिद्धराज जयसिंह (१२ वीं शताब्दी) के समय में बताई है[3]।

भक्तामरस्तोत्र के टीकाकारों की उक्ति के आधार पर स्तोत्रकार मानतुंग को सम्राट् श्रीहर्ष का दरबारी कवि माना गया है[4]। सुभाषित ग्रन्थों में एक श्लोक मिलता है—

अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयोः॥

कुछ विद्वान् स्तोत्रकार मानतुंग को इस श्लोक में पठित मातंग दिवाकर से अभिन्न मानते हैं। किन्तु डा० ए० बी० कीथ का अभिप्राय है कि मानतुंग का समय बाण से १५० से २०० वर्ष बाद तक हो सकता है[5]। इतिहासज्ञ एम० कृष्णमाचारी[6] ने मालवा के चालुक्यवंशीय राजा

१—काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, पृ० १० की टिप्पणी द्रष्टव्य।
२—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, प्रथम संस्करण, पृ० २१५
३—भक्तामरस्तोत्र प्रस्तावना, पृ० १६
४—काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, पृ० १ की टिप्पणी द्रष्टव्य।
५—ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, प्रथम संस्करण, पृ० २१५
६—हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३२९

वैरसिंह के समय (८२५–९०० ई०) में इनकी स्थिति मानी है। काव्यमाला के सम्पादक ने मेरुतुंगप्रणीत प्रबन्धचिन्तामणि (पृ० ४४–४५) के प्रमाण पर लिखा है कि जिस समय मालवमण्डल में भोजराज का शासन था, उसी समय गुजरात में चौलुक्यराज भीम राज्य करते थे[1]। आगे चलकर यहां बताया गया है कि भोजराज की सभा में बाण और मयूर के साथ मानतुंग ने शास्त्रार्थ किया था और इन्हीं के दरबार में रहते हुये उन्होंने भक्तामरस्तोत्र की रचना की। ईसा की ११ वीं शताब्दी में मालवमण्डल में भोज और गुजरात में भीमदेव एक ही समय में शासन करते थे, यह निर्विवाद है[2]। इनके समय में बाण और मयूर की उपस्थिति उसी प्रकार की मानी जायगी जैसी कि भोजप्रबन्ध में राजा भोज के दरबार में कालिदास, माघ आदि की उपस्थिति। मेरुतुंगप्रणीत प्रबन्धचिन्तामणि में दी गई बाण और मयूर के साथ हुये मानतुंग के शास्त्रार्थ की घटना ही परवर्ती टीकाकारों की इस कल्पना का आधार हो सकती है कि मानतुंग श्रीहर्ष के दरबारी कवि थे। यही समय भक्तामरस्तोत्रकार मानतुंग का माना जा सकता है। इस स्तोत्र पर जो टीका अथवा मन्त्रोद्धार साहित्य लिखा गया, अथवा जहां कहीं भी इस स्तोत्र के उद्धरण मिलते हैं, वे सब कृतियां ग्यारहवीं शताब्दी ई० के बाद की ही उपलब्ध हैं। भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण में पंचस्तवी के तृतीय स्तव (घटस्तव) का १८ वां श्लोक उद्धृत है[3]। बहुत सम्भव है कि पंचस्तवी के रचयिता धर्माचार्य ही भोज के दरबार में कालिदास के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। इनका प्रथम स्तव (लघुस्तव) भी भक्तामर-स्तोत्र के समान ही मन्त्रमय है। अधिक सम्भव है कि इन स्तोत्रों के रचयिता एक साथ ही भोज के समय में विद्यमान हों।

ऊपर हमने बताया है कि यशस्तिलकचम्पू के रचयिता जैनाचार्य सोमदेवसूरि ने अवधूत सिद्ध के प्रस्तुत स्तोत्र के दो श्लोकों को उद्धृत किया है और इन्होंने अपना ग्रन्थ ९५९ ई० में पूरा किया था। इस समय तक जैन आचार्यों में पुष्पदन्त के महिम्नस्तव के समान अवधूत सिद्ध का यह स्तोत्र भी प्रसिद्ध हो गया था[4]। यह अनुमान करना क्या अनुचित होगा कि मानतुंग ने अपनी कृति भक्तामरस्तोत्र की रचना की प्रेरणा इसी स्तोत्र से ली? दोनों स्तोत्रों में बहुत सी समानतायें देखने को मिलती हैं, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। भक्तामरस्तोत्र की भाषा की अपेक्षा अवधूत सिद्ध की भाषा अवश्य ही अधिक सरल और ओजपूर्ण है।

१—काव्यमाला, सप्तम गुच्छक पृ० १ की टिप्पणी द्रष्टव्य।

२—प्रबन्धचिन्तामणि, मेरुतुंगाचार्य, पृ० २५

३—सरस्वतीकण्ठाभरण, पंचम परिच्छेद, पृ० ६२१ निर्णयसागर प्रेस संस्करण।

४—यशस्तिलकचम्पू, भा० २, पृ० २५५ में महिम्नस्तोत्र का एक श्लोक उद्धृत है।

अवधूत सिद्ध के समय के सम्बन्ध में अभी इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता कि ये यशस्तिलकचम्पूकार सोमदेव सूरि के पहले अवश्य विद्यमान थे। स्तोत्रकार द्वैतवादी शैवागमों से, पुराणों से और उनकी समन्वयात्मिका दृष्टि से बहुत प्रभावित है। स्तुतिकार जब यह कहते हैं :—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद्यदमी वदन्ति ।
तत्तत् त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥ (श्लो० २१)

तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में विभिन्न भारतीय धर्मों में परस्पर समन्वय की प्रक्रिया प्रखर हो उठी थी। इस प्रकार आनुमानिक रूप में इनका समय ईसा की सातवीं से नवीं शताब्दी के मध्य में रखा जा सकता है। इतिहासविदों के मन में द्वैतवादी शैवागमों का प्रसिद्धि और विस्तार का प्रायः यही समय है।

मृगेन्द्रतन्त्र के योगपाद[१] की व्याख्या करते हुये नारायण कण्ठ ने अवधूत गुरु के इस श्लोक को उद्धृत किया है —

यथा नीता रसेन्द्रेण धातवः शातकुम्भताम् ।
पुनरावृत्तये न स्युस्तद्वत् त (त्व) न्मतचोदिताः ॥

अर्थात् पारद यदि किसी धातु को सुवर्ण बना देता है तो फिर वह धातु पुनः अपनी पूर्व स्थिति में नहीं आती, इसी प्रकार शैवमत का अनुकरण करने वाले की भी पुनरावृत्ति अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता। भक्तिस्तोत्र के ३०वें श्लोक में भी इसी अभिप्राय की अभिव्यक्ति हुई है।

तत्वप्रकाश[२] और रत्नत्रय[३] की अघोरशिवाचार्य की टीका में दो अन्य अनुष्टुप् श्लोक सिद्ध गुरु के नाम से उद्धृत हैं। हमारा अनुमान है कि अवधूत गुरु को ही यहां पर सिद्धगुरु के नाम से अभिहित किया गया है।

सद्योज्योतिकृत परमोक्षनिरासकारिका की रामकण्ठकृत टीका[४] में "यदाह व्यासाक्षिण्यां तत्रभवानवधूतः" लिखने के बाद निम्नलिखित वाक्य दिया गया है —

"परमशिवः सिद्धान् प्रत्युपरताधिकारोऽप्यन्येष्वनुपरताधिकारः सिद्धः ।
पुनरेकान्तेन सर्वत एवोपरताधिकार इति भेद इति ।"

१—द्रष्टव्य—पृ० ४३, काश्मीर ग्रन्थमाला संस्करण ।
२—द्रष्टव्य—पृ० ४७, अष्टप्रकरण, वाणी विलास मुद्रणालय, श्रीरंगम् संस्करण ।
३—द्रष्टव्य—पृ० ६४, अष्टप्रकरण, वाणी विलास मुद्रणालय, श्रीरंगम् संस्करण ।
४—द्रष्टव्य—पृ० ७, अष्टप्रकरण, वाणी विलास मुद्रणालय, श्रीरंगम् संस्करण ।

इस उद्धरण से मालूम होता है कि अवधूत सिद्ध ने व्यासाक्षिणी नाम का कोई ग्रन्थ लिखा था। नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यह किसी ग्रन्थ की व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भक्तिस्तोत्र के अतिरिक्त अवधूत सिद्ध ने एक ग्रन्थ अनुष्टुप् छन्दोमय और दूसरा व्याख्यामय लिखा था। खेद है कि ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत स्तोत्र में ६५ श्लोक हैं। मंगल श्लोक के बाद द्वितीय श्लोक में स्तोत्रकार ने विनीत भाव से बताया है कि शिव-भक्ति ही मुझे बलपूर्वक इस स्तोत्र की रचना में प्रवृत्त कर रही है। बाद के चार श्लोकों में स्तुतिकार ने बताया है कि वह शिव की ही स्तुति में क्यों प्रवृत्त हुआ। तदनन्तर ३६ श्लोक पर्यन्त बौद्ध, सांख्य, वैदिक, न्याय वैशेषिक, वैयाकरण आदि के मतों की चर्चा करते हुये बताया गया है कि इनके द्वारा प्रतिपादित परमतत्व शिव से भिन्न नहीं है। साथ ही इनमें शैवागम के विशिष्ट सिद्धान्तों की भी चर्चा की गई है। इसके बाद ३७ से लेकर ५४ श्लोक पर्यन्त तथा ५७ वें श्लोक में भी विभिन्न पौराणिक तथा आगमिक कथाओं में वर्णित शिव के पराक्रम, अनुग्रह आदि का वर्णन मिलता है। अवशिष्ट श्लोकों में अपने उद्धार के लिये भगवान् शिव से विनम्र भाव से विनती की गई है। अन्तिम श्लोक में स्तुतिकार का कहना है कि शिव की स्तुति की रचना से जो कुछ थोड़ा बहुत पुण्य मुझे प्राप्त हुआ हो, उसके प्रभाव से साधारण जन में भी भगवान् शिव के प्रति भक्ति जागे।

इस स्तोत्र में शिव की स्तुति के व्याज से सिद्धान्त शैवागम के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया गया है। इसका सुगमता से अवबोध हो सके, इसके लिये यहाँ सिद्धान्त शैव दर्शन का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

इस मत में पति, पशु और पाश ये तीन पदार्थ हैं। शिव को यहां पति शब्द से अभिहित किया गया है। शिव व्यापक, एक, नित्य, अखिल तत्वग्राम का, संसारजाल का कारण और ज्ञान-क्रिया स्वभाव है। इच्छा आदि समग्र शक्तियां इसमें निलीन रहती हुई अपना कार्य करती हैं, अत एव यह सर्वानुग्राहक कहलाता है। पशु और पाश पर अनुग्रह करने की दृष्टि से इसका पहला उन्मेष शक्तितत्व के नाम से परिचित होता है। वह शक्तितत्व शिवतत्व में सदा अविनाभाव से रहता है। पाश निर्मुक्त मुक्त जीव भी शिव से अभिन्न हो जाते हैं, किन्तु ये जिसके अनुग्रह से मुक्त होते हैं, वह अनादि मुक्त शिव एक ही है। इसका शरीर मन्त्रमय है। अपनी विभिन्न शक्तियों के माध्यम से वह सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह इन पंच कृत्यों का सम्पादन करता है। शिव की शक्तियों का निमीलन और उन्मीलन व्यापार निरन्तर चलता रहता है। शक्तियों की निमीलनावस्था में यह सारा विश्व शिव में लीन हो जाता है और शिव की सिसृक्षा होने पर शक्तियां उन्मीलित होकर जगत् का उद्‌भाव करती हैं। शिव अणु और महान्, अनेक और एक, उग्र और प्रशान्त आदि अनेक परस्पर विरोधी गुणों का आश्रय है। सारा जगत् इसमें सूत्र में मणियों के समान गुंथा हुआ है।

शिव की निग्रह शक्ति जीव को पाशों से ढक देती है, तब वह अणु जीव पशु कहलाता

है । इस अवस्था में शिव के सर्वज्ञता, स्वतन्त्रता आदि छः गुण इसमें लुप्त हो जाते हैं । ये पशु तीन प्रकार के होते हैं—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल । विज्ञानाकल मल से मुक्त, प्रलयाकल मल और कर्म से मुक्त और सकल मल, माया और कर्म से मुक्त होता है । विज्ञानाकल समाप्तकलुष और असमाप्तकलुष के भेद से दो प्रकार का होता है। समाप्तकलुष विज्ञानाकल पशुओं को शिव अनुग्रह करके आठ विद्येश्वरों के पदों पर प्रतिष्ठित करते हैं और असमाप्तकलुष विज्ञानाकलों को सप्तकोटि महामन्त्रों का पद देते हैं । प्रलयाकलों में भी जिनके मल और कर्म पक्व हो जाते हैं, उनको शिव भुवनपतित्व प्रदान करते हैं और अपक्व मल कर्म वाले प्रलयाकल जीव पुर्यष्टकमय देह से निखिल योनियों में भ्रमण करते रहते हैं ।[1] शेष जीव सकल कहलाते हैं । पक्वकलुष और अपक्वकलुष के भेद से सकल भी दो प्रकार के होते हैं ।

परमेश्वर की दो प्रकार की विशिष्ट शक्तियां इस संसार में कार्यरत हैं—एक बन्धकरी और दूसरी मोचिका । बन्धकरी निग्रहशक्ति अनादिकाल से पशुओं को पाशजाल में बाँधती हैं और मोचिका अनुग्रहशक्ति का कार्य तब आरम्भ होता है जब कि पक्वकलुष जीव की कर्मसाम्य की अवस्था के आने पर भगवान् शिव स्वयं आचार्य मूर्ति धारण कर दीक्षा के द्वारा शक्तिपात के माध्यम से शिष्य का मलपाक कराकर उसको परमतत्व में नियोजित करने का अनुग्रह करते हैं । अवधूत के निम्न श्लोक में यही भाव स्फुट रूप में विद्यमान है :—

बध्नाति काचिदपि शक्तिरलुप्तशक्तेः
क्षेत्रज्ञमप्रतिहता तव पाशजालैः ।

१—एक मत है कि बुद्धि, अहंकार और मन ये तीन अन्तःकरण तथा बुद्धीन्द्रिय के पांच शब्द आदि करण मिलकर पुर्यष्टक कहलाते हैं । दूसरा मत है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बुद्धीन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण ये आठ पुर्यष्टक कहलाते हैं । तीसरा मत है कि कर्मेन्द्रियपञ्चक, बुद्धीन्द्रिय-पञ्चक, मन आदि चार अन्तःकरण, प्राणादिपञ्चक, वियदादिपञ्चक, काम, कर्म और तम ये आठ पुर्यष्टक हैं । (द्रष्टव्य—तत्वप्रकाश, कुमार टीका पृ० ५१-५२)। पुर्यष्टक शब्द की विस्तृत व्याख्या के लिये द्रष्टव्य–तत्वप्रकाश की अघोरशिवाचार्य की टीका एवं सर्वदर्शनसंग्रह में शैवदर्शन (आनन्दाश्रम, पूना संस्करण, पृ० ७०) । योगिनीहृदयदीपिका में तीन स्थानों (पृ० ६८, २८४, ३०२) पर स्वच्छन्दसंग्रह का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसमें सूक्ष्म पुर्यष्टक का विवरण दिया गया है—

चितिश्चित्तं च चैतन्यं चेतनेन्द्रियकर्म च ।
जीवः कला च देवेशि सूक्ष्मं पुर्यष्टकं स्मृतम् ॥

इस श्लोक का भाव समझने के लिये द्रष्टव्य—सर जान वुडरफ की पुस्तक गारलैण्ड आफ लेटर्स, पृ० २५६-२५७, तृतीय संस्करण ।

ज्ञानासिना च विनिकृत्य गुणानशेषा–
नन्या करोत्यभिमुखं पुरुषं विमुक्तौ ।।

तृतीय तत्त्व पाश के अन्तर्गत मल, कर्म, माया, मायोत्थ अखिल जगत् और तिरोधानकरी शक्ति में अर्थपंचक आते हैं। माया और मायोत्थ अखिल जगत् को एक ही मानकर कुछ आचार्य चार ही पाश मानते हैं। अन्य आचार्य तिरोधान शक्ति को शिव के पञ्चकृत्य में उसका समावेश होने से पाश में नहीं गिनते। इस प्रकार पाश तीन ही हैं—मल, कर्म और माया। मल एक होते हुये भी अनेक शक्तियों से युक्त है। यह जीव की दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति को ढक देता है। इसकी स्थिति तुषकम्बुक के समान अथवा ताम्राश्रित कालिमा के समान है। तण्डुल तुष और कम्बुक के साथ रहने पर ही अंकुर की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मल भी कर्म और माया के साथ रहकर ही पशु के वास्तविक स्वरूप को ढक कर उसके संसार रूपी अंकुर के स्फुरण का कारण बनता है। ताम्राश्रित कालिमा के नाश होने पर भी जैसे ताम्र का नाश नहीं होता, प्रत्युत उसमें औज्ज्वल्य प्रकट होता है, उसी भांति मल के नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता, किन्तु उसके ज्ञानादिमय स्वरूप का स्फुरण होता है। धर्माधर्मात्मक कर्मों का अनादि प्रवाह चलता रहता है। माया यहां भावरूप (वस्तुरूप) है, वेदान्त के समान अनिर्वचनीय नहीं। वह नित्य है और विश्व का मूल कारण है।

क्रम और प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मल की भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।[1] वहाँ पर आणव, कार्म और मायीय के नाम से मल के तीन भेद बताये गये हैं।

शैवागमों में वेदशास्त्र की अपेक्षा शिवशास्त्र की विशेषता बताई गई है। अवधूत सिद्ध ने अपने स्तोत्र के २८ वें श्लोक में यही प्रदर्शित किया है। ३२वें श्लोक में बताया गया है कि शिव-धर्म की दीक्षा ले लेने पर बिना ज्ञान के भी मुक्ति हो जाती है, जब कि वेदशास्त्र कहते हैं कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं मिल सकती। शिवशास्त्र का तो यहाँ तक कहना है कि केवल लिंगधारण मात्र से मुक्ति मिल जाती है।[2] गीता का कहना है—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' इसके विपरीत शिवशास्त्र का उद्घोष है कि इस शास्त्र का आश्रय लेने पर जीव की एक ही जन्म में मुक्ति हो जाती है[3]। [4]यह बात सच है कि ज्ञान विमुक्ति-फल का

१—द्रष्टव्य—महार्थमञ्जरी, पृ० ३०-३२, संस्कृत विश्वविद्यालय संस्करण।
२—भक्तिस्तोत्र, श्लोक ३१
३—वहीं, श्लोक ३०
४—वहीं, श्लोक ३३

बीज है, किन्तु बीज के अंकुरित होने के लिए जैसे पानी की आवश्यकता है, उसी भांति ज्ञान भी शिवशास्त्र रूपी जल से सिंचित होने पर ही मोक्षरूपी फल दे सकता है।

सांख्यदर्शन में बताया गया है कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से संसार और वियोग से कैवल्यलाभ होता है। प्रकृति और पुरुष के संयोजन और वियोजन व्यापार का हेतु क्या है? इसका संतोषजनक उत्तर निरीश्वर सांख्य नहीं दे पाता। शैवागमों का कहना है कि इस व्यापार में एकमात्र हेतु शिव ही है[1]। शिव की कृपा के बिना जीव अपने कार्यों के फलभोग में भी स्वतन्त्र नहीं है[2]। शिव की कृपा (शक्तिपात) के कार्यरत हो जाने पर फिर किसी पुरुषार्थ की अपेक्षा नहीं रहती। वह उत्साहशक्ति से रहित विकलांग, पापी, मन्दमति जीवों को भी मुक्ति की ओर उन्मुख कर देती है[3]। इस प्रकार के क्षीणाशय जीव के ऊपर जब शिव की अनुग्रह शक्ति अपना व्यापार प्रारम्भ कर देती है, तो अज्ञानी जन भी आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त कर लेता है[4]।

समस्त स्तोत्र की भाषा बहुत ही सरल है। उक्त गूढ दार्शनिक तत्व भी यहां बड़ी ही सरल भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। समासयुक्त पदावली का कम से कम प्रयोग किया गया है। ऐसे स्थल बहुत ही कम है, जहां कि श्लोक के एक पाद में पूरी समासमय पदावली हो। पूरा स्तोत्र प्रसाद और ओज गुण से भरी भाषा में लिखा गया है। अनेक श्लोकों का चतुर्थ चरण अपनी विशिष्ट पदावली और वर्ण्य विषय की विशेषता के प्रतिपादन के चूडान्त उत्कर्ष के कारण बहुत ही प्रभावोत्पादक हो उठा है। पूरे स्तोत्र के दो ही स्थल हमें इस बात के अपवाद के रूप में मिले हैं। प्रथम है २२ वें श्लोक का 'तीर्थकरभा' शब्द और दूसरा ५४ वें श्लोक का उत्तरार्ध। दोनों प्रतियों में २२ वें श्लोक में यही पाठ मिलता है। इसका अर्थ भाषानुवाद में किया गया है, किन्तु पूरे स्तोत्र की ललित, सरलतम पदावली में यह पद कुछ जंचता नहीं। ५४ वें श्लोक की रचना महाभारत के लेखक गणेश के साथ की गई व्यास की उस सन्धि की याद दिलाती है, जिसमें यह तय हुआ था कि व्यास यदि महाभारत लिखाते हुये बीच में रुक जायेंगे तो गणेश अवश्य लिखना बन्द कर देंगे, किन्तु गणेश भी बिना समझे किसी अंश को लिखेंगे नहीं। गणेश के तीव्र लेखन में रुकावट डालने के प्रयोजन से व्यास बीच बीच में कूट श्लोकों की रचना करते थे। यह श्लोक भी उसी प्रकार का मालूम होता है।

१—वहीं श्लोक २५
२—वहीं, श्लोक २६
३—वहीं, श्लोक २७
४—वहीं, श्लोक ३४

अन्त में भक्तिस्तोत्र की दोनों मातृकाओं की प्रतिलिपि उपलब्ध कराने में पूरा सहयोग करने के लिए मैं लखनऊ की अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् के मन्त्री श्री गोपालचन्द्र सिंह जी, उपमन्त्री डा० जगदम्बा प्रसाद सिन्हा तथा राजस्थान प्राच्य विद्यामन्दिर के अधिकारीगण के प्रति धन्यवाद प्रकाश करना अपना कर्तव्य समझता हूं। सम्पादन कार्य में संस्कृत विश्वविद्यालय के योगतन्त्र विभाग के विद्वद्गण का, विशेष कर वर्तमान अध्यक्ष श्री ब्रजवल्लभ द्विवेदी का, सहयोग स्मरणीय है। इन्हीं सब लोगों के सहयोग से प्रस्तुत संस्करण इस रूप में उपस्थापित किया जा सका है।

आशा है भक्तिस्तोत्र को इस रूप में पाकर आगमानुशीलनरुचि मनीषिगण को मनस्तोष प्राप्त होगा।

गोपीनाथ कविराज

बसन्तपंचमी, २०२८ वि०
मां आनन्दमयी आश्रम,
वाराणसी।

भक्तिस्तोत्रम्

अवधूतसिद्धविरचितम्

(१)

प्रत्यक्षवस्तुविषयाय जगद्धिताय
विश्वस्थितिप्रलयसम्भवकारणाय ।
सर्वात्मने विजितकोपमनोभवाय
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनप्रभवे शिवाय ।।

(२)

सत्यं न वेद्मि किमहं यदगोचरोऽसि
वाचस्पतेरपि गिरां किमुतास्मदादेः[१] ।
भक्तिस्तथापि भवतो गुणकीर्तनेषु
यन्मां नियोजयति किं तदहं करोमि ।।

(३)

रवार्केन्दुवह्निमरुदात्ममहीपयोधि-
रष्टाभिरेव तनुभिर्भवता समस्ते ।
व्याप्ते जगत्यपरमिच्छति योऽत्र वक्तुं
कोऽन्यो[२] हतत्रपतया सदृशोऽस्ति तेन ।।

(४)

धृत्यादिभिः स्वतनुवृत्तिभिरेव यद्वद्
एको भवान् वहति सम्प्रति लोकमात्राम् ।
तद्वद् विभो यदि जगत्यपरोऽस्ति कश्चि-
न्निर्मत्सराः किमिति[३] न प्रवदन्ति सन्तः ।।

---

१. ताम्य—ल०, तास्स-जो० ।
२. न्योऽत्र तत्र—ल० ।
३. किमपि—ल० जो० ।

(५)

योगादपास्ततमसो भुवनत्रयेऽपि
मुख्या पितामहपुरन्दरविष्णवोऽपि ।
अद्यापि देव न विदन्ति कृतप्रयत्ना-
स्तत्त्वं तवेति तदहो महदिन्द्रजालम् ॥

(६)

भावोद्भवस्थितिविपत्करणप्रवृत्तौ
संज्ञा विभिन्नरचनास्त्वयि संभवन्ति ।
साम्ये स्थितः[1] प्रतिनिवृत्तसमस्तकार्यो
नेन्द्रो न विष्णुरसि नापि पितामहोऽसि ॥

(७)

केचिद् भवन्तमनुपाधिमनामरूपं
विज्ञानमेव परमार्थतया प्रपन्नाः ।
अन्ये त्रिधातुपरिकल्पनया विशुद्ध-[2]
मूचुः[3] स्वशास्त्रसमयं परिपालयन्तः[4] ॥

(८)

सांख्यैः समस्तजगदुद्भवकारणानि
प्रोक्तानि यानि खलु सत्त्वरजस्तमांसि ।
रूपाणि तान्यपि तवैव समग्रशक्तेः
किं तन्न[5] यत् परिगतं भुवि शक्तिभिस्ते ॥

(९)

नित्यं विनाशि[6] यदरूपमनेकमेक-
मुग्रं प्रशान्तमगुणं गुणसंनिविष्टम् ।
संसारिणं वशिनमध्रुवमस्वतन्त्रं
देवं भवन्तमसकृत् कवयः स्तुवन्ति ॥

---

१. स्थिताः—ल० जो० ।
२. द्ध—ल० ।
३. मूढाः—ल० ।
४. यन्तु—ल० ।
५. तत्र—ल० जो० ।
६. पद—ल० जो० ।

(१०)

वाचामतीतविषयो निरुपाख्यभावात्[1]
प्रोक्तोऽसि शून्यमिति कैश्चिदसत्प्रतिज्ञैः ।
त्वामेव केचिदपि वाचकवाच्ययोगात्
सन्तं विशेषणवशात् परिकल्पयन्ति ।।

(११)

आद्यन्तयोस्त्रिभुवनस्य भवन्तमेव
यं वैदिकाः पुरुषमाहुरभेद्यमाद्यम्[2] ।
भूयस्तमेव जननप्रलयान्तराले
संसारजालमिति जातविकारमूचुः[3] ।।

(१२)

आत्मानमात्मनि यदा स्वयमात्मनैव
संयम्य तिष्ठसि निमीलितसर्वशक्ते[4] ! ।
लीनं तदा त्वयि जगत् खलु तावदास्ते
यावत् तवोद्भवति नाथ पुनः सिसृक्षा ।।

(१३)

त्वत्तः[5] परं जगति नाथ न चास्ति किञ्चि-
न्नाणुः क्वचिन्न च महान् भवतः सकाशात् ।
सर्वात्मकोऽसि भवतैव समस्तमेत-
दन्तः कृतं ननु जगन्मणिनेव सूत्रम् ।।

(१४)

चेतांसि यानि सुखदुःखविशेषभाञ्जि
ये च प्रधानपरिणामविकारभेदाः ।
त्वं देव जन्मनि पुनः प्रलये च तेषां
हेतुः समस्तपयसामिव तोयराशिः ।।

---

१. पाख्य—ल० ।
२. रभेदभावम्—जो० ।
३. मूडा—ल० ।
४. शक्तेः—ल० जो० ।
५. जोधपुरमातृकायां त्रयोदशः श्लोको द्वादशत्वेन, द्वादशश्च त्रयोदशत्वेन स्थापितः ।

(१५)

अस्तास्त्वया सुरगुरो ! स्वतनौ यदैव
खात्मानलानिलजलावनिचन्द्रसूर्याः ।
लोकेऽपरस्य भवता ननु कारणस्य
मूले तदैव निहितः सकले कुठारः ॥

(१६)

स्तौति प्रसह्य तव षोडशधा विभज्य
मूर्तिं प्रमाणरचनो[१] मुनिरक्षपादः ।
द्रव्यादिवस्तुरचनाभिरुपात्तभेदै-
र्वैशेषिके कणभुजाऽपि ननु स्तुतोऽसि ॥

(१७)

बध्नाति काचिदपि शक्तिरनन्तशक्तेः[२]
क्षेत्रज्ञमप्रतिहता तव[३] पाशजालैः ।
ज्ञानासिना च विनिकृत्य गुणानशेषा-
नन्या करोत्यभिमुखं पुरुषं विमुक्तौ ॥

Ands PSV, p. 30

(१८)

एकां बत च्युतसमस्तभवप्रवृत्ति-
माहुर्विमुक्तिमिति शान्ततमामवस्थाम् ।
स्थित्युद्भवप्रलयिनीमपरामवस्थां
संसारिणीमिति वदन्ति तवैव सन्तः ॥

(१९)

अज्ञानतीव्रतिमिरोपहतप्रकाशा-
स्त्वद्दूषणं प्रति विनष्टधियोऽपि सन्तः ।
तावत् त्यजन्ति न भवं भगवंस्त्वयैव
यावत् स्वशक्तिविभवैर्न विबोधिताः स्युः ॥

---

१. रचनां—ल० ।
२. रलुप्तशक्तेः—त० व्या० कु० ।
३. भव–ल०, पर० योग० ।

(२०)

गुह्यं गुहाश्रयमजं परमं पवित्र–
मेकं विभुं सकलवाङ्मयबीजमाद्यम् ।
सम्यक्प्रयुक्तमभिवाञ्छितहेतुभूत–
माहुर्भवन्तमपरे ननु शब्दतत्वम् ॥

(२१)

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि–
रुत्प्रेक्ष्य तत्वमिति यद्यदमी वदन्ति ।
तत्तत् त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत् Quoted in PSV, p. 62
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

(२२)

सर्वज्ञबीजमविकारमलुप्तशक्तिं
निश्रेयसाभ्युदयमार्गविधानहेतुम् ।
त्वामेव देव ! गुरवः प्रथमेऽपि सम्य–
गाराध्य तीर्थकरभा महिमानमापुः ॥

(२३)

सर्वज्ञता यदपि लक्षणया परस्य
मुख्या तथापि भवतः परमेश्वरत्वात् ।
स्वातन्त्र्यमप्यनुपचारमुपैति योगं
त्वय्येव नाथ जगतः खलु कर्तृभावात् ॥

(२४)

दृश्येत कश्चिदधिगच्छति वस्तुजात-
मन्योऽनुमानसमयैरपरोऽपि शब्दैः ।
प्रत्यक्षवत्तु[१] भवतः पुनरक्रमेण
सर्वं करामलकवद्विदितं प्रमेयम् ॥

---

१. वस्तु–ल० जो० ।

(२५)

अस्यात्मनो विषयिणः परतन्त्रवृत्ते-
रस्याश्च नाथ जगतः प्रकृते परायाः[1] ।
संयोजने च विरतौ च परोऽसि हेतुः
संसारचक्रपरिवर्तनयन्त्रवाहः ॥

(२६)

कुर्वन् मुहुः[2] स्वयमतन्द्रितयाऽपि बुद्ध्या
कर्माणि शास्त्रसमयोपनिबन्धनानि ।
संयुज्यते समुचितेन तु यत्फलेन
तच्चेष्टितस्य फलमप्रतिमं तवैव ॥

(२७)

उत्साहशक्तिरहितान् विकलानपुण्यान्[3]
मन्दान् निरस्तसमयानघृणानसत्यान् ।
आवाञ्छितेन[4] विनियोजयता फलेन
लुप्तस्त्वया पुरुषकारविशेषवादः ॥

(२८)

कर्माणि वेदविहितानि सुखप्रदानि
प्रेत्यैति तत्फलमिदं फलमन्तवच्च ।
त्वच्छासने सुखमनन्तमशेषदोष-
प्लोषाय भक्तिविहितां प्रणतिं यदाहुः ॥

(२९)

9PVV, II, p173
9PV, I, 333

प्राकाम्यमात्मनि यदा प्रकटीकरोषि
व्यक्तीः प्रतिक्षणमनेक[5]विधा दधानः ।
त्वय्येव सोऽपि भगवन् ! भजतेऽर्थवत्तां
प्रायो विदग्धरचितः क्षणभङ्गवादः ॥

---

१. परस्य—ल० जो० ।
२. मुदः—जो० ।
३. नपुष्यन्—ल० ।
४. अवा—ल० ।
५. मपूर्वतया—जो० ।

(३०)

यत्तीर्थिकैर्जगति जन्मभिरप्रमेयै-
नासाद्यते पदमिति स्वमतेषु गीतम् ।
बुद्ध्येकजन्मिकमिति[1] ब्रुवतां[2] विगृह्य
तेषां[3] त्वया ननु कृतश्चरणः शिरस्सु ॥

(३१)

लुब्धा मलीमसधियः समयादपेता
रागोपरक्तमनसो वशिनोऽप्यसन्तः ।
त्वच्छासने विहितलिङ्गपरिग्रहेण
मुच्यन्त इत्यतिमहांस्तव सिंहनादः ॥

(३२)

अव्याहतस्य भगवन् ! भवदागमस्य   SPVV, III, 326
चिन्तामणेरिव महानसमः प्रभावः ।
सम्यग् विधानविहितां यदवाप्य दीक्षां
ज्ञानादृतेऽपि खलु केवलतामुपैति ॥

(३३)

ज्ञानं तिरस्कृतमिदं पशुवासनाभि-
रास्तां यदात्मनि विमुक्तिफलस्य बीजम् ।
तद्वारिणेव भगवन् ! भवदागमेन
संपादितं भवति मोक्षफलप्रसूत्यै ॥

(३४)

जन्तौ यदा तव कदाचिदनुग्रहेच्छा
क्षीणाशये भवति जन्मभिरप्रमेयैः ।
संसारजालमतिवाह्य तदैव शान्ति-
मात्यन्तिकीं व्रजति बोध[4]विवर्जितोऽपि ॥

---

१. उच्चैक-जो० ।
२. ध्रुवतां-ल० ।
३. येषां-ल० जो० ।
४. दोष—जो० ।

(३५)

एतच्चतुर्दशविधं भुवनं समस्तं
संसारमण्डलमवान्तरभेदभिन्नम् ।
त्वं पासि हंसि विदधासि यदृच्छयेति
मत्वा[1] न लिप्यत इति प्रवदन्ति सन्तः ॥

(३६)

ऐश्वर्यमप्रतिहतं सहजो विराग-
स्तृप्तिर्निसर्गजनिता वशितेन्द्रियेषु ।
आत्यन्तिकं सुखमनावरणा च शक्ति-
र्ज्ञानं च सर्वविषयं भगवंस्तवैव ॥

(३७)

यत्नादुपात्ततपसोऽपि हि यद् दुराप-
मात्यन्तिकं सुखमपास्तसमस्तदुःखम् ।
नीताः खरोष्ट्रतरवोऽपि यदित्यहो ते
स्वातन्त्र्यमप्रतिहतं भुवनत्रयेऽपि ॥

(३८)

येनामलस्फुरितरत्नशिखावितानो
हेमीकृतो[2] निपतता सकलः सुमेरुः ।
तस्यातुलं फलमिदं तव शुक्रविन्दो-
रेकस्य यत्कनकभूषणमाप लोकः ॥

(३९)

कालेन संचितमपुण्यमनन्तकल्पं
लोकत्रयस्य यदभूत् त्रिपुरप्रकारम् ।
दग्धं त्वया तदिति सम्यगवेत्य कस्य
मूढादृते भवति न त्वयि पक्षपातः ॥

---

१. सत्वा—ल० ।
२. होमी—ल०, हैमी—जो० ।

(४०)

क्षीरोदसारमथनप्रतिलब्धजन्म
वित्रासितत्रिदशसंहतिकालकूटम् ।
निर्मत्सरेण पिबता जगतो[1] हिताय
पीतस्त्वयैव सकलो ननु साधुवादः ॥

(४१)

शान्तात्मनाऽपि[2] भगवन् ! भवता प्रसह्य
नेत्रोद्भवेन दहता दहनेन कामम् ।
अल्पीयसोऽपि महतां समतिक्रमस्य
मन्ये जनाय विषमः कथितो विपाकः ॥

(४२)

स्नेहाद् विधाय दयितां वपुषोऽर्धभागे
धुर्य[3]स्तथापि भगवन्[4] ! शमिनां त्वमेव ।
त्रैलोक्यविस्मयकृतां तव चेष्टिताना-
मद्यापि कश्चिदपि नानुकृतिं करोति ॥

(४३)

उच्चैस्तिरस्कृतमिदं भुवनं समस्तं
योगप्रभावजनितेन बलेन येन ।
तस्य प्रजापतिसुतस्य हृतः प्रसह्य
गर्वस्त्वयेति बत कस्य न विस्मयोऽत्र ॥

(४४)

अङ्गुष्ठकेन भवता विनिपीडितस्य
यस्यासवो न विगताः सहसा कथञ्चित् ।
यत्नात् स एव हरिणा[5] विजितश्चिरेण
नीत्या दशानन इति[6] क्व नु विस्मयोऽयम् ॥

---

१. जगते—ल० जो० ।
२. भवता भगवन्—जो० ।
३. धूर्यः—ल० ।
४. भगवान्—ल० ।
५. विजितो हरिणा चिरेण—जो० ।
६. न—ल० ।

(४५)

मन्दाकिनीकनकपङ्कजपारिजात-
पुष्पाधिवासितजला नभसः पतन्ती ।
लग्ना तुषारकणिकेव जटाग्रभागे
केनापरेण भवतेव धृताऽनुगृह्य ॥

(४६)

आस्तां तवान्यदपि तावदतुल्यकक्ष्य-
मैश्वर्यमीश्वरपदस्य निमित्तभूतम् ।
त्वच्छ्रेयसोऽपि[1] भगवन् ! न गतोऽवसानं
विष्णुः पितामहयुतः[2] किमुतापरस्य ॥

(४७)

श्वेतस्य[3] मृत्युदशनान्तर[4]वर्तिनोऽपि
सूनापशोरिव वधावसरे स्थितस्य ।
प्राणान्[5] निगृह्य भवता यदकारि तस्य
तत्कस्य विस्मयमलं न करोति लोके ॥

(४८)

प्रीतेन यद्वदुपमन्युरपास्तमन्युः
क्षीरोदसंविभजनेन कृतस्त्वयाऽसौ ।
तद्वद्विभो ! यदि जगत्यपरोऽस्ति कश्चि-
न्निर्मुच्य मत्सरममी प्रवदन्तु सन्तः ॥

(४९)

वृत्रद्विषः सकुलिशस्य भुजस्य शक्ति-
स्तम्भिता विहसता भवता यथैव[6] ।
पूष्णस्तथैव दशनेषु भगस्य चाक्ष्णो-
र्दक्षस्य च क्रतुफले ममता निरस्ता ॥

---

१. त्वच्छ्रेयसो–जो०, त्वच्छमसो—ल० ।
२. यतः—ल० ।
३. द्वैतस्य—ल० ।
४. तुर—ल० ।
५. त्रिणा—ल० ।
६. तथैव—जो० ।

(५०)

विष्णुप्रजापतिपुरन्दरलोकपालै-
स्तिर्यक्सुरासुरनरैरपरैश्च दिव्यैः ।
लोके यथा पशुपते ! तव कल्पितानि
स्थानानि तद्वदपरस्य वदन्तु कस्य ॥

(५१)

शक्रात्मजस्य निजशार्ङ्गरथाङ्गपाणौ
कृष्णे स्थितेऽपि शकलीकृतदानवेन्द्रे ।
द्रोणापगेयकृपकर्णभयार्दितस्य
शं शङ्कर त्वमकृथा भृशमर्जुनस्य ॥

(५२)

आराधितेन भगवन् ! भवता हिरण्य-
वृष्टिं मरुत्तनृपतेः किरता यियक्षोः ।
ये ख्यापिता जगति भक्तजनप्रसादा-
स्तन्नाद्भुतं तव विभो ! परमेश्वरत्वम् ॥

(५३)

तीव्रव्रतस्य कणधूमनिपान[1]तप्त-
सर्वेन्द्रियस्य भवता भृगुनन्दनस्य ।
तुष्टेन शर्म यदकारि तदा स शुक्रः
शीतोष्णवातजलदैर्दिवि भासमानः ॥

(५४)

एतानि पासि भुवनानि [2]यदा विगृह्य
सेयं विभूतिरतुला तव तावदास्ताम् ।
दक्षप्रसूतिमपि ते भुवनत्र[3]येऽपि
कश्चिन्न वेत्ति भवता सह को विवादः ॥

---

१. निपात–ल० जो० ।
२. यथा विगह्य–ल० ।
३. येऽस्मिन्–जो० ।

(५५)

उन्मार्गवर्ति[1] गुण दोषविवेकमन्द-
मुग्रं मलीमसमसंयतमल्पसारम् ।
भीतार्तिनाशन दयापर लोकनाथ
देव प्रसीद मम चित्तमिदं प्रशाधि ॥

(५६)

एतानि नाथ ! चपलानि दुराशयानि
लुब्धानि रम्यविषयोपनिबन्धनानि ।
दुर्दान्तवाजिसदृशान्यविधेभावाद्
वश्यानि[2] मे कुरु सदैव षडिन्द्रियाणि ॥

(५७)

नन्दीश्वरस्य मनुजस्य सतोऽतिकष्टं
कालेन मृत्युमचिरेण निनीषितस्य ।
सर्वात्मनाऽऽत्मसमता[3] यदकारि तुष्ट्या
नाश्चर्यमेतदभवन्न[4] च भावि नास्ति ॥

(५८)

संसारपाशवशमेतदनीशमीश !
मिथ्याकुतर्कतिमिरोपहतप्रकाशम् ।
चेतो मम क्षपितमन्मथ[5] ! दग्धकाल !
सत्सेविते पथि नियोजय देवदेव ! ॥

(५९)

कायानुबन्धिभिरनेकविधैरपायै[6]
रागादिभिश्च मनसि प्रतिलब्धभावैः ।
मूढः पृथक् पृथगहं प्रविलुप्यमान-
स्त्वत्तः परं कथय कं शरणं व्रजामि ॥

---

१. तन्मार्गवर्ति–ल०, उन्मार्गवन्ति–जो० ।

२. वाच्यानि–जो० ।

३. ना समतया–जो० ।

४. आश्चर्य–जो० ।

५. मनर्थ–ल० ।

६. काला–ल० ।

(६०)

आयासकेन खलु कामपिशाचकेन
क्रोधग्रहेण च पुनर्निरवग्रहेण ।
ग्रस्तस्य विक्लवधियः प्रविमुक्तिहेतो-
र्यत्कृत्यमत्र मम तत्र तवैव शक्तिः ।।

(६१)

या सा जगत्परिभवस्य निमित्तभूता
हेतुः स्वयं सुरपतेरपि लाघवस्य ।
सा मां विडम्बयति[1] नाथ ! सदैव तृष्णां
भिन्धि प्रसह्य भगवन्नपुनर्भवाय ।।

(६२)

येनावृतः पशुरयं हृतबोधशक्ति-
स्तत्त्वं न वेत्ति जगते हितमात्मने वा ।
छिन्धि प्रसह्य भगवन् ! मम तत्समस्त-
मज्ञानजं तिमिरमस्तु महान् प्रकाशः ।।

(६३)

सर्वापदां निलयमध्रुवमस्वतन्त्र-
मासन्नपातमविवेकमसारमज्ञम् ।
यावच्छरीरकमिदं न विपद्यते मे
तावन्नियोजय[2] विभो ! कुशलक्रियासु ।।

(६४)

यत् खिद्यते कमलयोनिरपि स्तुवानः
साक्षाच्चतुर्भिरपि नाम मुखैर्भवन्तम् ।
तत् के वयं[3] तव गुणस्तवनक्रियासु
भक्तिः प्रमाणमिति सर्वमिदं क्षमस्व[4] ।।

---

१. विलम्ब—ल० जो० ।
२. न्निबोधय—ल० ।
३. केवलं —ल० ।
४. क्षमस्तु—जो० ।

(६५)

कृत्वा मया तव नुतिं जगदेकबन्धो !
भक्त्या स्वबुद्धिसदृशीमवधूतनाम्ना ।
पुण्यं यदल्पमपि किञ्चिदुपात्तमत्र
लोकस्य तेन भगवंस्त्वयि भक्तिरस्तु ।।

इति श्रीमदवधूतसिद्धविरचितं[1] भक्तिस्तोत्रं[2] समाप्तम् ।

---

१. कृतं—ल० ।
२. भगवद्भक्ति—जो० ।

अनुवाद

जगत् की समस्त प्रत्यक्ष वस्तुएं जिनका विषय हैं, संसार का हित करने वाले, जगत् की स्थिति, प्रलय और उत्पत्ति के कारणभूत, सर्वात्मक, काम और क्रोध को जीत लेने वाले, त्रिभुवन के स्वामी शिव को मैं नमस्कार करता हूं ।।१।।

क्या मैं यह नहीं जानता कि आप वाचस्पति की वाणी के भी अगोचर हैं, अर्थात् यह बात सत्य है कि बृहस्पति की वाणी भी आपके गुणगान में असमर्थ हो जाती है। ऐसी परि-स्थिति में भी मेरी अनुरागात्मिका भक्ति आपकी गुणावली के वर्णन के लिये मुझे प्रेरित कर रही है, तो मैं क्या करूं ? अभिप्राय यह है कि आपकी भक्ति ने बलात् मुझे इस स्तुति की रचना में लगा दिया है ।।२।।

आकाश, सूर्य, चन्द्र, वह्नि, वायु, आत्मा, पृथ्वी तथा समुद्र ये आठ आपकी मूर्तियां हैं। आपकी इन मूर्तियों से सारा जगत् व्याप्त है। इतना जान लेने पर भी यदि कोई किसी अन्य देवता की स्तुति करता है तो उससे बढ़ कर निर्लज्ज और कौन होगा ? ।।३।।

धृति आदि अपने शरीर की वृत्तियों से ही जिस प्रकार आप अकेले आजकल पूरे जगत् के योगक्षेम का भार वहन कर रहे हैं, हे विभो ! यदि उस प्रकार का कार्य सम्पन्न करने वाला जगत् में कोई और भी है तो मात्सर्य रहित सज्जन लोग इस विषय में क्यों कुछ नहीं कहते ? ।।४।।

योग द्वारा अपने अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले, त्रिलोकी में प्रमुख स्थान रखने वाले ब्रह्मा, इन्द्र तथा विष्णु भी यत्न करने पर भी आज तक आपके तत्त्व को नहीं जान सके। क्या यह एक बड़ा भारी इन्द्र जाल नहीं है ? ।।५।।

भाव जगत् की उपत्ति, स्थिति और संहार करने में प्रवृत्त होने पर उन उन कार्यों के अनुरूप आपके अनेक नाम हो जाते हैं। इसी प्रकार आपके समस्त कार्यप्रपञ्च को समेट कर साम्यावस्था में अवस्थित होने पर न तो आप इन्द्र हैं, न विष्णु और न पितामह ही। अर्थात् आपके साम्यावस्था में अवस्थित हो जाने पर इन संज्ञाओं की कोई स्थिति नहीं रह जाती ।।६।।

विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक आपको उपाधि से विनिर्मुक्त, नाम और रूप से रहित पर-मार्थतः विज्ञान स्वरूप ही मानते हैं। दूसरे वैभाषिक बौद्ध अपने दर्शन की मर्यादा को स्वीकार करते हुए आपको त्रिधातु (काय, रूप और आरूप्य) की परिकल्पना से विशुद्ध मानते हैं ।।७।।

सांख्यदर्शन में सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को समस्त जगत् की उत्पत्ति का कारण माना गया है। आप समस्त शक्तियों के अधिष्ठाता हैं। ये तीन गुण भी आपकी इन शक्तियों के ही विलास हैं। इस संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है, जो कि आपकी इन शक्तियों से व्याप्त नहीं है ।।८।।

कविगण नित्य होने पर भी विनाशी, रूप रहित होने पर भी अनेक तथा एक, प्रचण्ड एवं सौम्य रूपधारी, गुण रहित होने पर भी सभी गुणों से मुक्त, संसारी होने पर भी संयमशील, साथ ही अस्थिर और पराधीन इस प्रकार परस्पर विरोधी गुणों से युक्त मान कर आपकी स्तुति करते हैं ।।९।।

आख्या से रहित होने के कारण आप वाणी के विषय से अतीत हैं, अर्थात् नाम और रूप से रहित होने के कारण आपके विषय में वाणी प्रवृत्त नहीं हो सकती, इसलिये कुछ अपसिद्धान्ती दार्शनिक आपको शून्य अर्थात् अभावात्मक मानते हैं । इसके विपरीत कुछ दार्शनिक ऐसे भी हैं, जो कि वाचक और वाच्य के योग से अथवा विशेषण के बल से आपको सत् रूप में ही स्वीकार करते हैं ।।१०।।

इस संसार की आद्यावस्था और अन्तिमावस्था में अर्थात् सृष्टि के आरम्भ होने के पूर्व की तथा संहार हो जाने के बाद की अवस्था में वैदिक गण आपको ही निर्विकार आदि पुरुष मानते हैं । इसी प्रकार सृष्टि और प्रलय के बीच के काल में उसमें विकार उत्पन्न हो जाने के कारण उस आदिपुरुष को ही संसार जाल के नाम से अभिहित करते हैं ।।११।।

अपनी समस्त शक्तियों को अपने में ही अन्तर्हित करने वाले हे प्रभो ! जब आप स्वयं अपने को, अपने में नियन्त्रित कर लेते हैं तो यह संसार तब तक आप में लीन रहता है, जब तक कि आपकी पुनः सृष्टि करने की इच्छा उत्पन्न नहीं हो जाती ।।१२।।

हे नाथ ! इस संसार में आपसे उत्कृष्ट और कोई भी वस्तु नहीं है । कोई भी वस्तु न तो आपसे अधिक सूक्ष्म है और न महान् ही । आप सर्वात्मक हैं । मणि जैसे सूत्र को अपने में छिपा लेती है, उसी भांति इस सारे जगत् को आप अपने स्वरूप में छिपाये हुए हैं ।।१३।।

हे देव ! समुद्र से ही जैसे सभी प्रकार के जल विकारों की उत्पत्ति होती है और अन्त में वे सब उसी में लीन हो जाते हैं, उसी भांति आप नाना प्रकार के सुख और दुःख के विशेष भाजन चित्तों के तथा प्रधान (प्रकृति) के परिणाम से आविर्भूत होने वाले विविध विकारों की उत्पत्ति और नाश के कारण हैं ।।१४।।

हे देवगुरो ! जब आपने अपने अष्ट मूर्ति शिव रूप में आकाश, आत्मा, तेज, वायु, जल, पृथिवी, चन्द्र और सूर्य को अन्तर्हित कर लिया, तभी आपने अपने से भिन्न, अन्य दर्शनों के द्वारा स्वीकृत, अन्य कारणों के मूल में कुठाराघात कर दिया, अर्थात् अपने अष्ट मूर्ति शिव रूप से ही आप इस जगत् की सृष्टि करते हैं । आपसे भिन्न इस जगत् का और कोई कारण नहीं है ।।१५।।

प्रमाण शास्त्र न्यायदर्शन के रचयिता अक्षपाद मुनि गौतम आपकी मूर्ति का प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों में जबरदस्ती विभाग कर के उसकी स्तुति करते हैं । वैशेषिक दर्शन के रचयिता कणाद मुनि ने भी द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों में आपकी मूर्ति का विभाग कर

उसकी स्तुति की है। अभिप्राय यह है कि न्यायदर्शनकार ने प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान को और कणाद मुनि ने द्रव्य, गुण आदि सात पदार्थों के तत्त्वज्ञान को मोक्ष का कारण माना है, यह सब केवल उनके बुद्धि विकास का द्योतक है, वस्तुतः आपके स्वरूप से भिन्न उनकी कोई सत्ता नहीं है ॥१६॥

अनन्त शक्तियों से संपन्न आपकी एक शक्ति (अज्ञान) ऐसी है, जो कि यदि दूर नहीं की जाती है तो क्षेत्रज्ञ जीव को संसार रूपी पाश जाल से बांध लेती है। आपकी एक दूसरी शक्ति भी है, जिसकी सहायता से ज्ञान रूपी तलवार से संपूर्ण सांसारिक गुणों का उच्छेद कर जीव को मुक्ति की ओर उन्मुख किया जाता है ॥१७॥

साधुजन आपकी ही एक शान्ततम अवस्था को, जिसमें सभी सांसारिक प्रवृत्तियां निःशेष हो चुकी रहती हैं, विमुक्ति की संज्ञा देते हैं और दूसरी अवस्था को, जिसमें सृष्टि, स्थिति, संहार रूपी कार्य चलता रहता है, संसारिणी अर्थात् बन्धावस्था कहते हैं ॥१९॥

हे भगवन् ! तीव्र अज्ञान रूपी अन्धकार से जिनका ज्ञान रूपी प्रकाश नष्ट हो चुका है, ज्ञान रूपी प्रकाश के नष्ट हो जाने से जो विनष्ट बुद्धि जन आपको दोष दृष्टि से ही देखते रहते हैं, वे भी तब तक संसार को नहीं छोड़ पाते, जब तक आप उनको अपनी अनुग्रह शक्ति के बल से जगा नहीं देते। अर्थात् यह आपकी ही विशेषता है कि आपके प्रति दोषदृष्टि रखने वाले प्राणियों पर भी आप अनुग्रह करते हैं ॥१९॥

वैयाकरण गण आपको गुह्य, गुहाश्रय, अज, परम पवित्र, एक, विभु, सकल शास्त्रों के आदि कारण, विधि पूर्वक प्रयुक्त होने पर अभीष्ट फल को देने वाले शब्द तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं ॥२०॥

नाना शास्त्रों के रचयिता मनीषी गण अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार कल्पना करके तत्त्वों की नाना प्रकार की व्याख्या करते हैं। इन विद्वानों ने जो कुछ भी प्रतिपादित किया है, वह सब आपका ही स्वरूप है, आपसे भिन्न और कुछ भी नहीं है। विद्वज्जनों का यह विवाद केवल नाम को लेकर है। अर्थात् नाना शास्त्रों में जो कुछ भी प्रतिपादित है, उसमें मूलतत्त्व के नाम-भेद के सिवाय और कुछ भी भेद नहीं है ॥२१॥

हे देव ! आप सर्वज्ञता के बीज हैं, अविकारी है, आप नित्य उद्यतशक्तिमान् हैं, निःश्रेयस् तथा अभ्युदय (श्रेयस् तथा प्रेयस् लौकिक तथा पारलौकिक) मार्ग के प्रवर्तन के मूल कारण हैं। हमारे पूर्व गुरुजनों ने आपकी ही उपसना करके नाना शास्त्रों की रचना करने का सामर्थ्य प्राप्त कर अपनी महिमा स्थापित की है ॥२२॥

यद्यपि अन्यत्र भी सर्वज्ञता का उपचार से प्रयोग होता है, उसका मुख्य प्रयोग आप में ही अन्वित है, क्योंकि ऐश्वर्य की पराकाष्ठा आप में ही है। हे नाथ ! आप ही जगत् के कर्ता हैं, इसलिये अनुपधिक स्वातन्त्र्य भी आप में ही विद्यमान है ॥२३॥

कोई व्यक्ति दृश्य अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तुओं को जानता है, दूसरा अनुमान की पद्धति से और तीसरा शब्द प्रमाण के द्वारा। इसके विपरीत आपको तो बिना किसी क्रम के ही अपने हाथ में रक्खे हुए आंवले के समान समस्त प्रमेय प्रत्यक्ष रूप से ही सदा भासित होते हैं। अर्थात् हाथ में रक्खे हुए आंवले का जिस प्रकार सभी प्राणियों को प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उसी भांति संसार के समस्त पदार्थ सदा बिना क्रम के अपने सामने प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित रहते हैं ।।२४।।

हे नाथ ! पराधीन वृत्तिवाले इस विषयी जीवात्मा के साथ जगत् की इस परा प्रकृति के संयोग और वियोग में आप ही मूल कारण हैं। इस संसार चक्र में परिवर्तन का जो यन्त्र चलता है, उसको चलाने वाले आप ही हैं ।।२५।।

मनुष्य स्वयं प्रमाद रहित बुद्धि से शास्त्रों में वर्णित नियमों के अनुसार निरन्तर कर्म करता रहता है, उसको अपने कर्मों के समुचित फल की अधिगति होती है, किन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब कि आपकी अनोखी कृपा उस पर हो जाय ।।२६।।

उत्साह शक्ति से रहित, आतुर, पापात्मा, मन्दमति, मर्यादा का पालन न करने वाले, निर्दयी, असत्यभाषी व्यक्तियों को भी आप मनोवाञ्छित फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार आपने पुरुषकार अर्थात् पौरुष की विशेषता को लुप्त कर दिया है। अर्थात् आपकी अहैतुकी कृपा के कारण पुरुषकार अर्थात् मनुष्य के प्रयत्न का कोई महत्त्व नहीं रह जाता ।।२७।।

वेद-विहित कर्म सुखप्रद हैं, स्वर्ग देने वाले हैं, किन्तु यह स्वर्ग का सुख मरने के बाद मिलता है और यह नश्वर भी है। आपकी शरण में आने पर तो अविनश्वर शाश्वत सुख प्राप्त होता है, क्योंकि शास्त्रों में बताया गया है कि आपके प्रति भक्तिपूर्वक की गई प्रणति सभी प्रकार के दोषों को धो देती है ।।२८।।

हे भगवन् ! प्रतिक्षण अनेक व्यक्तियों को अर्थात् अनेक रूपों को धारण करने वाली अपनी प्राकाम्य शक्ति अर्थात् इच्छानुसार रूप धारण करने वाली शक्ति को जब आप प्रकट करते हैं, उस समय क्षणभंगवाद आप में ही सार्थक होता है। अर्थात् क्षण-क्षण में जो आप रूप-परिवर्तन करते हैं, इससे आप में बौद्धों के क्षणभंगवाद की सार्थकता सिद्ध होती है। इस प्रकार यह क्षणभंगवाद प्रायः किसी चतुर व्यक्ति की कल्पना मानी जानी चाहिये ।।२९।।

अनेक शास्त्रकारों ने अपने-अपने शास्त्रों में कहा है कि अनेक जन्मों के अनन्तर भी परम पद की प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार कहने वाले शास्त्रकारों के विरोध में बल पूर्वक यह कहकर कि वह परम पद तो एक ही जन्म में प्राप्त हो जाता है, आपने निश्चय ही उनके मस्तक पर अपना चरण रक्खा है ।।३०।।

लोभी, मलिन बुद्धि वाले, मर्यादा से विमुख, कामनाओं के दास, संयम से रहित,

पापात्मा व्यक्ति भी शैवागम में विहित लक्षणों के धारण करने से अवश्य ही इस संसार-चक्र से मुक्त हो जाते हैं। यह आपका अति गम्भीर सिंहनाद है ॥३१॥

हे भगवन् ! आपके द्वारा उपदिष्ट आगमशास्त्र अन्य शास्त्रों से बाधित नहीं होता। चिन्तामणि के समान इसका महान् अद्भुत प्रभाव यह है कि इस शास्त्र में उपदिष्ट विधान के अनुसार समीचीन पद्धति से दीक्षा ग्रहण कर लेने पर व्यक्ति बिना ज्ञान की अधिगति के ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि उपनिषद्, गीता आदि में बताया गया है कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती, किन्तु शैवागम का यह अद्भुत सामर्थ्य है कि बिना ही ज्ञान के शास्त्रानुमोदित दीक्षा के ग्रहण करने मात्र से मनुष्य मुक्त हो जाता है ॥३२॥

हे भगवन् ! आत्मा के मुक्ति रूप फल का कारण ज्ञान भले ही पाशविक वासनाओं से तिरस्कृत कर दिया जाय, किन्तु बीज में जल देने से जैसे वह वृद्धिशील होता हुआ फलवान् हो जाता है, उसी प्रकार आपके द्वारा उपदिष्ट शैवागम में प्रदर्शित विधि से पूर्णाभिषेक दीक्षा के जलाभिषेक से अभिषिक्त साधक मोक्षरूपी फल के प्रसव का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय यह है कि आगमिक दीक्षा मोक्षप्रसविनी है। वहां ज्ञान की अपेक्षा या उपेक्षा का कोई महत्व नहीं है ॥३३॥

असंख्य जन्मों के बाद जब कभी प्राणी की वासनएं क्षीण हो जाती हैं, तो उसके ऊपर कृपा करने की आपकी इच्छा होती है। उसके साथ ही वह संसार जाल को तोड़ कर आत्यन्तिक शान्ति पा लेता है, चाहे उसे ज्ञान प्राप्त हो या न हो ॥३४॥

अवान्तर भेदों से युक्त, चतुर्दश भुवन मय इस सारे संसार का आप पालन करते हैं, नाश करते हैं और निर्माण करते हैं। यह सब आप स्वेच्छया अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की सहायता से निर्लिप्त भाव से करते हैं। इसलिये शिष्ट जनों का यह कहना ठीक ही है कि यह सब करने पर भी आप कभी इनमें लिप्त नहीं होते ॥३५॥

हे भगवन् ! अप्रतिहत ऐश्वर्य, सहज विराग, स्वाभाविक तृप्ति, इन्द्रियों पर वशिता, सर्वातिशायी सुख, आवरण रहित शक्ति और सर्वविषयक ज्ञान इन विशेषणों से युक्त ये गुण केवल आप में ही हैं ॥३६॥

आपने गर्दभ, उष्ट्र और वृक्षों को भी उस पद पर पहुंचा दिया, जहां पर दुःख का लवलेश भी नहीं है और जो आत्यन्तिक सुख का स्थान है, जिसको यत्नपूर्वक तपस्या करने पर भी नही पाया जा सकता। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। यह तो तीनों भुवनों में व्याप्त आपकी अप्रतिहत स्वातन्त्र्य शक्ति का ही खेल है ॥३७॥

आपके शुक्र की एक बूंद का इतना अतुलनीय प्रभाव है कि जिसके गिरने से निर्मल, चमकीले रत्नों की किरणों के प्रकाश से घिरा हुआ सम्पूर्ण सुमेरु पर्वत सोने का हो गया। उसी का यह सुफल है कि लोगों को सोने के आभूषण प्राप्त हो सके हैं ॥३८॥

तीनों लोकों के अनन्त कल्पों के पाप-पुञ्ज के समान कालक्रम से त्रिपुर के इकट्ठा होने पर आपने उसको भस्म कर दिया था। इस वृत्तान्त को जो ठीक से जानता है, मूढ को छोड़-कर, किस सहृदय व्यक्ति का आपकी तरफ पक्षपात नहीं होगा ॥३९॥

क्षीर सागर के मथन से उत्पन्न कालकूट महाविष को, जिसने देवताओं को भयभीत कर दिया था, केवल जगत् के कल्याण के लिये निर्मत्सर भाव से आपने पी लिया था। यह सच ही है कि इसके साथ ही सारे जगत् का साधुवाद भी आपको ही पीने को मिला। अभिप्राय यह है कि जब अन्य देवता गण समुद्र-मन्थन से प्राप्त रत्नों की लूट-खसोट में लगे थे तो उनके इस कार्य के प्रति अपने मन में बिना कोई ईर्ष्या रक्खे कालकूट विष के रूप में जगत् के सामने आये भय का परिहार करने के लिये उद्यत होकर आपने जगत् का साधुवाद प्राप्त किया।४०।

हे भगवन् ! अत्यन्त शान्त स्वभाव के होते हुए भी आपने कामदेव को अपने तीसरे नेत्र से उत्पन्न अग्नि से बड़ी ही उग्रता से भस्म कर दिया। ऐसा आपने इस लिये किया कि जन साधारण को यह शिक्षा मिल जाय कि महान् व्यक्तियों की इच्छा के विरुद्ध किये गये छोटे से अपराध का भी कितना भयंकर परिणाम हो सकता है ॥४१॥

हे भगवन् ! अपने शरीर के अर्धभाग में स्नेहवश प्रिया पार्वती को स्थान देकर के भी आप ही विषयों से विरक्त तपस्वियों में अग्रगण्य हैं। त्रिलोकी को आश्चर्य में डाल देने वाली आप की चेष्टाओं की नकल करने वाला आज भी कोई दिखाई नहीं देता ॥४२॥

अपने योग सामर्थ्य के द्वारा प्राप्त बल से देवर्षि नारद ने समस्त विश्व का घोर तिर-स्कार किया था। प्रजापति के मानसपुत्र देवर्षि नारद के इस गर्व को भी आपने बल पूर्वक दूर कर दिया। आपके इस सामर्थ्य पर किसको आश्चर्य नहीं होगा ॥४३॥

कैलास पर्वत को मात्र अंगूठे से आपने दबाया था। इतने से ही रावण की यह दुर्दशा हो गई कि उसके प्राण एकाएक निकल नहीं गये। उसी दशानन रावण को जीतने के लिये विष्णु के अवतार भगवान् रामचन्द्र को राजनीति और प्रबल उद्योग का सहारा लेने पर भी बहुत समय लग गया। इसमें विस्मय की कोई बात नहीं है ॥४४॥

स्वर्णमय कमल तथा पारिजात के फूलों की सुगन्धि से सुरभित जलवाली, आकाश से पृथ्वी पर गिरती हुई गंगा अपनी जटा के अग्रभाग में आपको पानी की फुहार के समान लग रही थी। इसको धारण करने की सामर्थ्य और किसमें थी ? यह आप का ही अनुग्रह है कि लोक-कल्याण के लिये इसको आपने धारण किया ॥४५॥

ईश्वर पद की प्रवृत्ति के मूलकारण, जिसकी कोई तुलना नहीं हो सकती, ऐसे आपके अन्य ऐश्वर्य की बात को तो हम छोड़ देते हैं। हे भगवन् ! विष्णु और पितामह ब्रह्मा भी आपके लिङ्ग का भी अन्त न पा सके। ऐसी परिस्थिति में अन्य ऐश्वर्यों की तो बात करना ही व्यर्थ है ॥४६॥

मृत्यु के विकराल दाँतों के बीच पड़े हुए श्वेत ऋषि के, जो कि कसाई के घर में काटने के लाये गये पशु की तरह मृत्यु की पकड़ में थे, प्राणों की यम के क्रूर पाशों से आपने रक्षा की थी। इस बात को जान कर संसार के किस प्राणी को आश्चर्य नहीं होगा ॥४७॥

हे विभो! आपने जिस प्रकार प्रसन्न होकर उपमन्यु ऋषि को क्षीर समुद्र का दान कर दिया और इस प्रकार उनके क्रोध को शान्त किया, इस प्रकार का उदार वर देने वाला जगत् में कोई दूसरा है तो मत्सर का परित्याग कर सज्जन लोग उसे बतायें ॥४८॥

हे प्रभो! वृत्रासुर के शत्रु इन्द्र के वज्र की तथा उसकी भुजाओं की शक्ति को आपने जिस प्रकार हंसते हंसते कुण्ठित कर दिया था, वैसे ही पूषन् देवता के दातों को, भग देवता के आंखों को और दक्ष की यज्ञ के फल की ममता को नष्ट कर दिया ॥४९॥

हे पशुपते! विष्णु, प्रजापति, इन्द्र, लोकपाल, पशु-पक्षी, देव-दानव, मनुष्य एवं अन्य दिव्य योनि के जीवों ने इस लोक में आपके लिये जिस प्रकार स्थानों की कल्पना की है, वैसी किस दूसरे देवता के लिये हुई है, बतायें। अर्थात् शिव के अतिरिक्त अन्य किसी दूसरे देवता के लिये इस प्रकार स्थानों की कल्पना की गई हो, ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता ॥५०॥

हे कल्याणकारी शंकर! बड़े बड़े दानवों को टुकड़ा टुकड़ा कर देने वाले, शार्ङ्ग धनुष् और सुदर्शन चक्र को धारण करने वाले श्री कृष्ण के अपने रक्षक के रूप में विद्यमान रहने पर भी द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, कृपाचार्य और कर्ण जैसे महारथियों के भय से व्याकुल इन्द्रपुत्र अर्जुन को पाशुपतास्त्र का दान कर आपने ही भय मुक्त कर सुखी किया था ॥५१॥

हे भगवन्! बार बार यज्ञ करने वाले मरुत्त नामक राजा की आराधना से प्रसन्न होकर आपने उसकी सहायता के लिये सुवर्ण की वृष्टि की थी। इस प्रकार आपने संसार में भक्त जनों के ऊपर अनुग्रह करने के अनेक उदाहरण प्रख्यापित किये हैं। आपके सामर्थ्य को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥५२॥

महर्षि भृगु के पुत्र शुक्राचार्य जब कठोर तपस्या कर रहे थे, उस समय उनकी समस्त इन्द्रियां धूमकणों के पीने से तप गई थी। उनकी इस तपस्या से संतुष्ट होकर आपने उनको आकाश में सर्दी, गर्मी, पवन और मेघ आदि की उपाधियों से निर्मुक्त प्रकाशमय स्थान देकर सुखी कर दिया था ॥५३॥

इन भुवनों के भीतर प्रवेश कर आप लोक-लोकान्तरों की रक्षा करते हैं। आपकी इस अतुलनीय विभूति की चर्चा थोड़ी देर के लिये छोड़ भी दी जाय। (सती के अर्द्धाङ्ग के रूप में) आपकी जो दक्ष से उत्पत्ति है उसे तीनों लोकों में भी कोई नहीं जानता है। ऐसे में आपके साथ विवाद ही क्या? ॥५४॥

संसार सागर से डरे हुए व्यक्तियों की पीड़ा का शमन करने वाले, दया परायण, त्रिभु-वन के स्वामी हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हों एवं मेरे मन को अनुशासित करें। मेरा यह

मन बुरे रास्ते में पड़ा हुआ है, गुण और दोष की परख करने में कमज़ोर है, उग्र, कलुषित, अनियन्त्रित और कल्पप्राण है ।।५५।।

दुष्ट बासनाओं से भरी हुई, आपाततः रमणीय वैषयिक प्रपञ्चों से बंधी हुई ये चंचल और लुब्ध इन्द्रियां मुझे प्राप्त हुई हैं । अविनयी होने के कारण ये इन्द्रियां दुष्ट घोड़े के समान कुपथ में प्रवृत्त हैं । हे नाथ ! पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन सहित इन छः इन्द्रियों को आप सदा के लिये मेरे वश में कर दीजिये ।।५६।।

नन्दीश्वर एक साधारण मानव थे । काल के पाश में बंधे हुए वह अतीव कष्टदायिनी मृत्यु के मुंह में तुरन्त ही ले जाये जाने वाले थे । उनके ऊपर प्रसन्न होकर आपने सब प्रकार से उनको अपने समान बना दिया । यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है और ऐसा भी नहीं है कि इस प्रकार का आश्चर्य फिर कभी नहीं होगा ।।५७।।

कामदेव और काल को भी भस्म कर देने वाले, हे देवताओं के अधिपति ! मेरा मन सांसारिक पाशों में बंधा हुआ असहाय पड़ा है । भ्रमोत्पादक कुतर्क रूपी अन्धकार से आवृत रहने के कारण ज्ञान का प्रकाश इसके पास नहीं पहुंच पाता । अतः हे नाथ ! इसको आप साधु जनों के द्वारा अनुसेवित मार्ग में लगाइयें ।।५८।।

ज्वर, अतीसार आदि नाना प्रकार के रोगों से मेरा शरीर घिरा रहता है और रागद्वेष आदि दोष मेरे मन को सदा घेरे रहते हैं । इस प्रकार कभी शारीरिक और कभी मानसिक दोषों से घिरी मूढता के कारण मेरा स्वरूप लुप्त हो गया है । ऐसी अवस्था में बताइये नाथ ! आप के सिवाय मैं किसकी शरण में जाऊं ।।५९।।

पीड़ा पहुंचाने वाले काम रूपी पिशाच से और अनियन्त्रित क्रोध रूपी ग्रह से ग्रस्त रहने के कारण मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गई है । इस लिये मुक्ति की प्राप्ति के लिये मुझे जो कुछ करना चाहिये, उसमें केवल आपकी शक्ति ही सहायक हो सकती है ।।६०।।

हे नाथ ! जो विश्व के सारे पराभवों की मूल कारण है, जो स्वयं देवराज इन्द्र की भी लघुता (क्षुद्रता) का कारण बनती है, वह तृष्णा मुझे सदा विडम्बना में डाले रहती है । हे भगवन् ! आप दृढतापूर्वक मेरी उस तृष्णा को छिन्न-भिन्न कर दीजिये, जिससे मेरा पुनर्जन्म न हो ।।६१।।

जिस अज्ञान से आच्छादित रहने के कारण पशु सदृश यह जीव अपनी ज्ञान शक्ति गंवा बैठता है और इस प्रकार विश्व के अथवा अपने कल्याण के परमार्थ कारण को नहीं जाना पाता । हे भगवन् ! आप मेरे उस समस्त अज्ञानजन्य अन्धकार को बलपूर्वक छिन्न-भिन्न कर दीजिये, परिणाम-स्वरूप महान् ज्ञानमय आलोक चारों तरफ फैल जाय ।।६२।।

हे विभो ! सभी विपदाओं का आश्रय-स्थल, अस्थिर, परतन्त्र, पतनोन्मुख, विवेकशून्य, सारहीन और मूढता से भरा मेरा यह क्षुद्र शरीर जब तक विपत्ति-ग्रस्त नहीं हो जाता, उससे पहले ही आप इसे पुण्य कर्मों की ओर प्रवृत्त कर दें ।।६३।।

नाभिकमल से उत्पन्न स्वयं ब्रह्मा भी अपने चारों मुखों से आपकी स्तुति करते हुए जब थक जाते हैं तो ऐसी स्थिति में आपकी गुणगरिमा का वर्णन करने में हम लोग कहाँ तक समर्थ होंगे ? इस कार्य में केवल आपकी भक्ति ही प्रमाण हो सकती है, अतः इस सम्पूर्ण वाचालता के लिये आप हमें क्षमा करें ।।६४।।

हे भगवन् ! आप इस संसार के एकमात्र बन्धु हैं । अवधूत नामधारी इस व्यक्ति ने भक्तिपूर्वक अपनी बुद्धि के अनुसार आपकी स्तुति करके जो कुछ थोड़ा सा भी पुण्य प्राप्त किया है, उसके फलस्वरूप आपके प्रति जनता की भक्ति जागे (यही मेरी कामना है) ।।६५।।

श्री अवधूतसिद्धविरचित भक्तिस्तोत्र समाप्त ।

टिप्पणियां

श्लोक १

प्रत्यक्षवस्तुविषयाय। प्रत्यक्षाणि वस्तूनि विषयः कार्यक्षेत्रं यस्य स प्रत्यक्षवस्तुविषयस्तस्मै प्रत्यक्षवस्तुविषयाय (जगत् की समस्त प्रत्यक्ष वस्तुएं जिनका विषय है, कार्यक्षेत्र है। अथवा प्रत्यक्षाणां वस्तूनां (खात्मानलानिलप्रभृतीनां) विषय आश्रयो यस्तस्मै प्रत्यक्षवस्तुविषयाय। इस स्तोत्र के तृतीय श्लोक में तथा पन्द्रहवें श्लोक में क्रमशः 'खार्केन्दुवह्निमरुदात्ममहीपयोधि' तथा 'खात्मानलानिलजलावनिचन्द्रसूर्याः' इन समस्त पद खण्डों के द्वारा आकाश, सूर्य, चन्द्र, वह्नि, पवन, आत्मा, पृथिवी और जल—इन आठ पदार्थों का उल्लेख किया गया है। महाकवि कालिदास ने—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥

अभिज्ञानशाकुन्तल के इस नान्दी श्लोक में इनको शिव की प्रत्यक्ष तनू (शरीर) कहा है। शिव की अष्ट मूर्त्तियों का संस्कृत वाङ्मय में, विशेष कर शैव पुराणों में, विस्तार से वर्णन मिलता है। इस प्रकार शिव आकाश आदि आठ प्रत्यक्ष वस्तुओं के आश्रय हैं, अर्थात् ये शिव की आठ प्रत्यक्ष मूर्तियां हैं। (३ टिप्पणी भी द्रष्टव्य)

२. **विजितकोपमनोभवाय।** कोपश्च मनोभवश्च कोपमनोभवौ, विजितौ कोपमनोभवौ येन स, तस्मै विजितकोपमनोभवाय। क्रोध और काम को जीत लेने वाले। स्तोत्रकार ने ६०वें श्लोक में भी काम और क्रोध का उल्लेख किया है। भगवद्गीता में कहा गया है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (५।२३)

अर्थात् जो व्यक्ति इसी जन्म में शरीर छोड़ने से पहले काम और क्रोध के वेग को सहन करने में समर्थ हो जाता है, वही योगी है, वही सुखी है। योगिराज भगवान् शिव के लिये 'विजित-

कोपमनोभवाय' विशेषण सर्वथा उचित है। योगिराज शिव से ही कामपिशाच से और अनियन्त्रित क्रोध से मुक्ति पाने की प्रार्थना की जा सकती है।

श्लोक ३

खार्केन्दुवह्नि०। प्रथम श्लोक की प्रथम टिप्पणी में अभिज्ञानशाकुन्तल के प्रमाण पर शिव की प्रत्यक्ष अष्टविध तनू का परिचय दिया गया है। शिवपुराण की शतरुद्रसंहिता के शिवाष्टमूर्तिवर्णनाध्याय में—

शर्वो भवस्तथा रुद्र उग्रो भीमः पशोः पतिः।
ईशानश्च महादेवो मूर्तयश्चाष्ट विश्रुताः॥
भूम्यम्भोऽग्निमरुद्व्योमक्षेत्रज्ञार्कनिशाकराः।
अधिष्ठिताश्च शर्वाद्यैरष्टरूपैः शिवस्य हि॥ (२।३-४)

स्पष्ट कहा गया है कि शर्व, भव, रुद्र, उग्र, भीम, पशुपति, ईशान और महादेव क्रमशः भूमि, जल, अग्नि, मरुत्, आकाश, आत्मा, सूर्य और चन्द्र के अधिष्ठातृ देवता हैं। 'कल्याण' के तीर्थाङ्क में अष्टमूर्ति के तीर्थों का वर्णन पृ० ४८२–४८५ में इस प्रकार मिलता है—

(१) सूर्य (ईशान) कोणार्क, (२) चन्द्र (महादेव) सोमनाथ, (३) क्षेत्रज्ञ, आत्मा या यजमान (पशुपति) पशुपतिनाथ, (४) पृथ्वी (शर्व) एकाम्रेश्वर (शिवकाञ्ची), (५) जल (भव) जम्बुकेश्वर (त्रिचनापल्ली), (६) अग्नि (रुद्र) अरुणाचल या तिरुवण्णमलै, (७) वायु (उग्र) कालहस्ती (तिरुपति बालाजी के पास), (८) आकाश (भीम) चिदम्बरम्। भीम के अतिरिक्त शिव के अन्य रूपों का वर्णन अथर्ववेद व्रात्यकाण्ड में भी मिलता है।

श्लोक ४

धृत्यादिभिः। मनुस्मृति में—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (६।९२)

इस प्रकार धृति, क्षमा, यम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध को धर्म का अंग माना गया है। ये सब शरीर अर्थात् मन की वृत्तियां हैं। "धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः" इस वचन में धर्म की व्याख्या की गई है कि धर्म प्रजा का पालन करता है। इस प्रकार धृति आदि शरीर की वृत्तियों के माध्यम से शिव प्रजा का पालन करते हैं, यह स्तुतिकार का अभिप्राय है। अथवा तृतीय श्लोक में शिव की अष्टतनू का वर्णन है। पृथिवी का गुण है धृति, अर्थात् स्थावरजंगमात्मक जगत् को धारण करना। इस प्रकार अपनी इस अष्टविध तनू की वृत्तियों के रूप में अवस्थित धृत्यादि गुणों के माध्यम से, जिनका वर्णन कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की नान्दी में मिलता है, शिव सारे जगत् की लोकयात्रा का निर्वाह करते हैं।

श्लोक ७

१. **केचित्**। विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध दार्शनिक के मत में विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। जगत् में प्रतीत होने वाले बाह्य पदार्थ वास्तव में चित्त की ही विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं। चित्त विज्ञान के प्रवाह का ही दूसरा नाम है। स्वप्नावस्था में हमें मालूम होता है कि देखी गई वस्तुएं बाहर विद्यमान है, परन्तु ऐसी बात तो नहीं होती, सब वस्तुएं चित्त के भीतर ही रहती हैं। जाग्रदवस्था में भी यही स्थिति रहती है। घट और घटविज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। नील वर्ण और नील वर्ण का विज्ञान एक ही वस्तु है। इस प्रकार विज्ञानवादी के मन में विज्ञान के अतिरिक्त वस्तु की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। न केवल सभी प्रकार की उपाधियों से, अपितु नाम और रूप से भी रहित विज्ञान ही इनके मन में परमार्थ सत्य है। इसी सिद्धान्त का उल्लेख यहां पर किया गया है और बताया गया है कि यह विज्ञानवाद का सिद्धान्त आप पर ही लागू होता है, क्योंकि आप सभी प्रकार की उपाधियों से निर्मुक्त एवं नामरूप से अस्पृष्ट हैं।

२. **अन्ये**। बौद्धों में वैभाषिक बाह्य वस्तुवादी हैं। वसुबन्धु का अभिधर्मकोश इस सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ है। वसुबन्धु ने अभिधर्मकोश के तृतीय कोशस्थान के प्रथम तीन श्लोकों में काम, रूप और आरूप्य—इन तीन धातुओं का परिचय दिया है। द्वितीय कोशस्थान में बताया गया है कि समस्त चित्त और चैत्तों का विकास इन तीन धातुओं के कारण होता है। इनके मन में परमतत्त्व इन तीन धातुओं की परिकल्पना से विशुद्ध माना गया है।

श्लोक १०

१. **कैश्चित्**। शून्यवादी बौद्ध दार्शनिक, जो कि माध्यमिक नाम से भी जाने जाते हैं, जगत् की सारी वस्तुओं को शून्य का प्रपञ्च मानते हैं। कुछ विद्वानों के मन में शून्य का अर्थ सत्ता का निरास है। वस्तुतः शून्यवाद के मूल ग्रन्थों में शून्य शब्द का प्रयोग सत्तानिरास के अर्थ में नहीं किया गया है, किन्तु चतुष्कोटिविनिर्मुक्त पारमार्थिक सत्ता के रूप में किया गया है। इस प्रत्यक्ष जगत् से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। लौकिक विचारों से वर्णनीय न होने के कारण यह तत्त्व शून्य कहा जाता है। शैव मत सत्कार्यवादी है। उनके मत में सभी कुछ, परमतत्त्व भी सत् है। इस प्रकार चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य अथवा वेदान्तियों के ब्रह्म की अपेक्षा शैवागम संमत परम तत्त्व अधिक सुबोध है।

२. **केचित्**। नैयायिकों के मत में वाचक और वाच्य का, शब्द और अर्थ का, योग अर्थात् सम्बन्ध शक्तिरूप माना गया है। सम्बन्ध किसी सद् वस्तु के साथ ही हो सकता है। ईश्वर के वाचक अनन्त शब्द हैं। इनसे सम्बन्ध होने के कारण ईश्वर शून्य रूप न होकर सद्रूप है। इसी प्रकार ईश्वर नाना प्रकार के विशेषण पदों के भी आश्रय हैं। विशेषणों का प्रयोग

सत्पदार्थ में ही किया जा सकता है, असत् में नहीं। इस प्रकार नैयायिकों के मत में ईश्वर सत्स्वरूप हैं। इन्हीं हेतुओं के आधार पर नैयायिक शून्यवाद का खण्डन करते हैं।

श्लोक ११

वैदिकाः। "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (६।२।१) इस छान्दोग्य श्रुति में सृष्टि के आरम्भ में एक अद्वितीय ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार की गई है। "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" (ऋ० ८।४।१७) पुरुष सूक्त के इस मन्त्र में भूत और भावी सारा विश्वप्रपञ्च पुरुष का ही विस्तार माना गया है। इन श्रुतियों का तात्पर्य ही इस श्लोक में प्रतिपादित है।

श्लोक १६

मुनिरक्षपादः । वैशेषिके कणभुजा। "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्वग्रहणान्निःश्रेयसाधिगमः" अक्षपाद मुनि गौतम के न्यायदर्शन का यह प्रथम सूत्र है। इसमें प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। इसी प्रकार "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" (१।१।४) वैशेषिक दर्शन के इस सूत्र में कणाद मुनि ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय— इन छः पदार्थों के सम्यग्ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति बताई है। स्तुतिकार का अभिप्राय है कि गौतम द्वारा प्रतिपादित प्रमाण, प्रमेय आदि तथा कणाद के द्रव्य, गुण आदि पदार्थ आपकी ही विभिन्न विभूतियाँ हैं।

श्लोक २०

गुह्यं गुहाश्रयम्। "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। त्रीणि गुहा निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।" (ऋ० २।३।२२), "आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः। तेषां च सामग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥" "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" (महाभाष्य ६।१।८४ में उद्धृत) इत्यादि श्रुतियों में वैयाकरणों के मतानुसार गुह्य, गुहाश्रय, परम पवित्र, अभिवाञ्छित फल देने वाले शब्दतत्त्व का ही वर्णन किया गया है, यही इस श्लोक का अभिप्राय है।

श्लोक २२

तीर्थंकरभाः। तीर्थंकरी शास्त्रनिर्माणकर्त्री भा बुद्धिर्येषां ते तीर्थंकरभाः शास्त्रकारा इत्यर्थः। इस प्रकार 'तीर्थंकरभाः' पद का अर्थ यहां शास्त्रकार है। अन्य कोई सरल पाठ

उपलब्ध न होने के कारण यह क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ी है। स्तुतिकार जिस प्रकार अपने पूरे स्तोत्र में प्रसाद और ओज गुणों से पूर्ण शब्दों का व्यवहार करता है, उसको देखते हुए यहां पर सरस और सरल पदावली का अभाव खटकता है। लिपिकारों का ही यह दोष प्रतीत होता है।

श्लोक ३०

यत्तीर्थिकैः। "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" (६।४५), "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते" (७।१९) इत्यादि गीतावाक्यों में यह बतलाया गया है कि अनेक जन्मों की कठोर तपस्या के बाद ही परम पद की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत शैवागमों में "अनायासेन यत्रोक्ता मुक्तिरेकेन जन्मना" (महार्थमञ्जरीपरिमल में उद्धृत शिवधर्म), "इहैकभविको मोक्ष एष तावत् परीक्ष्यताम्" (परमार्थसार योगराजवृत्ति में उद्धृत शिवधर्मोत्तर) इस प्रकार एक ही जन्म में मुक्ति का प्रतिपादन मिलता है।

श्लोक ३६

ऐश्वर्यमप्रतिहतम्। जैन महाकवि सोमदेव सूरि ने यशस्तिलकचम्पू में दो स्थानों पर (द्वितीय भाग, पृ० २५५, २७२) इस श्लोक को उद्धृत किया है। वायुपुराण में—"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः। अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य" (१२।३३)॥ इस श्लोक में महेश्वर के छः अंगों का वर्णन मिलता है। इस श्लोक में यही विषय भणितिभेद से उपयुक्त विशेषणों के साथ बड़े ही प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थापित किया गया है।

श्लोक ३७

खरोष्ट्रतरवः। काशी में मृत्यु होने पर सभी मुक्त हो जाते हैं, ऐसा सामान्य विधान स्कन्दपुराण काशीखण्ड आदि में हैं। "काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह वचन प्रसिद्ध है। यहां पर खर, उष्ट्र और तरु विशेष का उल्लेख हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार की कथा पुराणों एवं आगम ग्रन्थों में अन्वेषणीय है।

श्लोक ३८

१६. **येनामलस्फुरित०**। इस श्लोक का कुछ अंश क्षेमराज ने अपनी शिवस्तोत्रावली की टीका (पृ० २२७) में उद्धृत किया है। शिवस्तोत्रावलीकार उत्पल भी "जय जाम्बूनदोदग्र-धातूद्भवगिरीश्वर" (१४।२०) इस प्रकार शिव की स्तुति करते हैं। श्रीमद्भागवत के अष्टम स्कन्ध में—"यत्र यत्रापतन्मह्यां रेतस्तस्य महात्मनः।

तानि रूप्यस्य हेम्नश्च क्षेत्राण्यासन् महीपते॥ (१२/३३)

इस श्लोक में शिव के वीर्य से सुमेरु पर्वत के स्वर्णमय हो जाने की कथा अन्वेषणीय है।

श्लोक ३९

त्रिपुरप्रकारम्। शिवपुराण रुद्रसंहिता युद्धखण्ड के १–१० अध्याय में तथा अन्य अनेक पुराणों में भी त्रिपुरदाह की कथा वर्णित है। स्कन्द के द्वारा तारकासुर के वध होने के बाद तारकासुर के तीन पुत्र—तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमलाक्ष ने सुमेरु पर्वत की गुफा में जाकर अनेक वर्षसहस्रपर्यन्त ब्रह्मदेव को प्रसन्न करने के लिये कठोर तप किया। फलस्वरूप वरदान में उन्होंने ब्रह्मा से क्रमशः स्वर्गलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक में स्वर्णमय, रजतमय और लौहमय तीन नगरों को प्राप्त किया। इनका निर्माण मयासुर ने किया था। उन्होंने यह भी वर प्राप्त किया कि इन तीनों पुरों के एक साथ ध्वंस होने पर ही इनकी मृत्यु होगी। उक्त वर प्राप्ति से मदोन्मत्त हुए ये असुर देवताओं को सताने लगे। देवताओं की प्रार्थना पर भगवान् शिव ने एक ही बाण से इन तीनों पुरों को भस्म कर दिया और इस प्रकार देवताओं को इन असुरों के त्रास से मुक्त किया।

श्लोक ४०

१८. कालकूटम्। महाभारत के आदिपर्व के अठारहवें अध्याय में देवताओं और दैत्यों के द्वारा अमृत के लिये समुद्र-मन्थन की कथा दी गई है। समुद्र-मन्थन से १४ रत्नों की उत्पत्ति के साथ कालकूट महाविष भी प्रकट हुआ और यह सारे जगत् को जलाने लगा। ब्रह्माजी के प्रार्थना करने पर भगवान् शिव ने त्रिलोकी की रक्षा के लिये उस हलाहल विष को पी लिया और उसको अपने कण्ठ में धारण कर नीलकण्ठ बन गये। द्रष्टव्य—

अतिनिर्मथनादेव कालकूटस्ततः परः।
जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन्॥
त्रैलोक्यं मोहितं यस्य गन्धमाघ्राय तद्विषम्।
प्राग्रसल्लोकरक्षार्थं ब्रह्मणो वचनाच्छिवः॥
दधार भगवान् कण्ठे मन्त्रमूर्तिर्महेश्वरः।
तदा प्रभृति देवस्तु नीलकण्ठ इति श्रुतिः॥ (४१–४३)

श्लोक ४१

दहनेन कामम्। भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र से काम के दाह की कथा अति प्रसिद्ध है। महाकवि कालिदास ने कुमारसम्भव में इस कथा का बड़ी ही ओजस्वी काव्यमय भाषा में भावपूर्ण वर्णन किया है। इस प्रसंग में शिवपुराण रुद्रसंहिता पार्वतीखण्ड अध्याय १९ भी द्रष्टव्य है।

श्लोक ४२

दयितां वपुषोऽर्धभागे । ब्रह्मदेव अपनी सृष्टि को विकसित न देख चिन्तित हो उठे। उन्होंने आकाशवाणी से आदेश प्राप्त कर शिव को शक्ति सम्पन्न करने के लिये कठोर तप किया। फलस्वरूप भगवान् शिव 'अर्धनारीश्वर' रूप में अवतीर्ण हुए। ब्रह्मा की प्रार्थना पर शिव ने अपने अर्ध शरीर से नारी शक्ति को पृथक् किया और उस शक्ति ने ब्रह्मदेव को नारी जाति की सृष्टिहेतु वरदान दिया। फलस्वरूप ब्रह्मा ने शतरूपा एवं स्वायम्भुव मनु को जन्म देकर मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ किया। (द्रष्टव्य—शिवपुराण, शतरुद्रसंहिता, अध्याय ३ एवं वायवीय संहिता पूर्वभाग, अध्याय १५–१६)।

श्लोक ४३

प्रजापतिसुतस्य । हिमालय में कठोर तपस्या करते समय इन्द्र द्वारा प्रेषित कामदेव को जब देवर्षि नारद ने पराजित कर दिया, तब वे गर्वग्रस्त हो गये। उनके गर्व को चूर करने के लिये शिव की आज्ञा से भगवान् विष्णु ने मायानगरी की रचना की। देवर्षि नारद पर्यटन करते हुए जब वहाँ पहुंचे, तो वहां की राजकन्या श्रीमती पर मोहित हो गये। राजकन्या के स्वयंवर में अपना ही वरण कराने की इच्छा से उन्होंने विष्णु से सौन्दर्य की याचना की। विष्णु ने उनको वानर का रूप दे दिया। फलस्वरूप वे उस स्वयंवर में उपहास के पात्र हुए और इस प्रकार उनका गर्व दूर हुआ (द्रष्टव्य—शिवपुराण रुद्रसंहिता, सृष्टिखण्ड, अध्याय २–४)।

श्लोक ४४

दशाननः । बाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड के १६ वें सर्ग में रावण के द्वारा कैलाश पर्वत को अपनी भुजाओं पर उठा लेने की कथा वर्णित है। अपने बल के दर्प में रावण ने पूरे कैलाश पर्वत को उठा लिया। इससे पूरा कैलाश कांप उठा और रुद्रगण ही नहीं, माता पार्वती भी भयभीत हो गई। भय का कारण मालूम कर शंकर ने केवल अपने पैर के अंगूठे से कैलाश को दबा दिया। इससे रावण की भुजाओं में बड़ी पीड़ा होने लगी और वह चिल्ला उठा। रावण के स्तुति करने पर भगवान् शिव ने अपने अंगूठे के दबाव से उसको मुक्त किया।

श्लोक ४५

मन्दाकिनी । महाभारत के वनपर्व के १०९ अध्याय में पृथ्वी पर भागीरथी गंगा के अवतरण की कथा दी गई है। यहां पर वर्णन मिलता है कि आकाश से उतरती हुई, मत्स्य और ग्राह से भरी हुई, भयंकर तरंगों वाली गंगा को भगवान् शिव ने ललाट देश में मोतियों की माला के समान धारण कर लिया। द्रष्टव्य—

समुद्धृतमहावर्ता मीनग्राहसमाकुला ।
तां दधार हरो राजन् गङ्गां गगनमेखलाम् ॥
ललाटदेशे पतितां मालां मुक्तामयीमिव । (९–१०)

श्लोक ४६

२४. **त्वच्छेपसोऽपि ।** लिङ्गपुराण के पूर्वार्ध के १७ वें अध्याय में शिवलिङ्ग की महिमा वर्णित है । ब्रह्मा और विष्णु में एक बार विवाद उपस्थित हो गया कि इनमें कौन बड़ा है । इनके विवाद के शमन के लिये इनके बीच में एक दिव्य ज्योतिर्लिङ्ग का आविर्भाव हुआ । विष्णु वराह का रूप धारण कर नीचे की ओर गये तथा ब्रह्मा ऊपर की ओर । वे उस ज्योतिर्मय लिङ्ग का आदि और अन्त न पा सके और इस प्रकार उनका गर्व चूर्ण हो गया ।

श्लोक ४७

२५. **श्वेतस्य ।** लिङ्गपुराण के पूर्वार्ध के ३० वें अध्याय में श्वेत मुनि का आख्यान वर्णित है । श्वेतमुनि ने पहाड़ की गुफा में मृत्यु के मुख में अपने को देखकर रुद्राध्याय के पाठ से शिव को प्रसन्न किया । श्वेत मुनि को काल के द्वारा अपने पाश में बांध लिये जाने पर भी भगवान् शिव ने अम्बा पार्वती के साथ प्रकट होकर उनको काल के पाश से मुक्त कर मृत्युञ्जय पद प्रदान किया ।

श्लोम ४८

२६. **उपमन्यु ।** व्याघ्रपाद मुनि के पुत्र उपमन्यु जन्मतः दरिद्र थे । वे अपनी माता के शैशवावस्था में मामा के घर गये । वहां पर मामा के लड़के को भर पेट और इनको थोड़ा सा दूध पीने को मिला । उपमन्यु माता के पास आकर भर पेट दूध पीने की ज़िद करने लगे । इस पर माता ने उञ्छवृत्ति से प्राप्त बीजों से निर्मित कृत्रिम दूध उन्हें दिया । इससे वे संतुष्ट नहीं हुए और माता से उपदेश प्राप्त कर शिवोपासना में लग गये । शिव ने इनकी भक्तिभावना की परीक्षा ली । इस परीक्षा में वे खरे उतरे और शिव ने प्रसन्न होकर वरदान स्वरूप इनको दूध, दही आदि के समुद्र ही प्रदान कर दिये । (द्रष्टव्य—शिवपुराण, शतरुद्रसंहिता, अध्याय ३२ तथा वायवीय संहिता, पूर्वभाग, अध्याय ३४–३५) ।

श्लोक ४९

२७. **वृत्रद्विषः ।** शिवपुराण के रुद्रसंहिता सतीखण्ड में तथा वायवीय संहिता पूर्वभाग में इन्द्र के बाहुस्तम्भन, पूषा के दन्तोत्पाटन, भग के नेत्रोत्पाटन और दक्ष के यज्ञफल की ममता के निरसन की कथाएं दक्षयज्ञविध्वंस के प्रसंग में वर्णित हैं । यथा—

तथा शतमखस्यापि सवज्रो दक्षिणः करः ।
सिसृक्षोरेव उद्वज्रं चित्रीकृत इवाभवत् ।। (वा० पू० २२।४२)
चण्डश्चोत्पाटयामास पूष्णो दन्तान् प्रवेगतः ।
शप्यमाने हरे पूर्वं योऽहसद् दर्शयन् दतः ।।
नन्दी भगस्य नेत्रे हि पातितस्य रुषा भुवि ।
उज्जहार दक्षमक्ष्णा यः शयन्तमसूसुचत् ।। (रु० स० ३७।५४–५५)
अहो विधिविपर्यासस्त्वश्वमेधोऽयमध्वरः ।
यजमानः स्वयं दक्षो ब्रह्मपुत्रः प्रजापतिः ।। × × ×
तथापि यजमानस्य यज्ञस्य च सहर्त्विजः ।
सद्य एव शिरश्छेदः साधु संपद्यते फलम् ।। (वा० पू० २२।६२, ६४)

श्लोक ५०

२८. **विष्णुप्रजापतिः** । श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्ध के छठे अध्याय में दक्षयज्ञविध्वंस के बाद शिव को प्रसन्न करने के लिये देवताओं के उनके पास जाने, स्तुति करने और यज्ञ में रुद्रभाग की कल्पना की कथा वर्णित है । इस श्लोक में वर्णित रुद्र के लिये स्थान कल्पना की कथा अन्वेषणीय है ।

श्लोक ५१

२९. **शक्रात्मजस्य** । महाभारत में वनपर्व के ३९–४० अध्यायों में अर्जुन के द्वारा भगवान् शिव की आराधना और किरातवेषधारी शिव के साथ उसके युद्ध का वर्णन मिलता है । अर्जुन की तपस्या, वीरता और भक्तिप्रवणता से संतुष्ट होकर भगवान् शिव ने अर्जुन को पाशुपतास्त्र का उपदेश दिया था । द्रोणपर्व के ८१ वें अध्याय में अर्जुन को स्वप्न में इस अस्त्र की पुनः प्राप्ति होती है, जबकि अर्जुन को द्रोणाचार्य आदि से युद्ध करना पड़ता है । शिवपुराण शतरुद्रसंहिता के ३७–४१ अध्यायों में भी यह कथा मिलती है । महाकवि भारवि ने इसी कथा को लेकर अपने महाकाव्य 'किरातार्जुनीय' की रचना की है ।

श्लोक ५२

३०. **मरुत्तनृपतेः** । महाभारत में द्रोणपर्व के ५५ वें अध्याय में मरुत्त नृपति की कथा संक्षेप में वर्णित है । यहां पर भगवान् शिव ने मरुत्त नृपति के भांति-भांति के यज्ञों से भगवान् के यजन करने की इच्छा की पूर्ति के लिये प्रचुर धनराशि के रूप में हिमालय का एक सुवर्णमय टुकड़ा प्रदान किया था ।

यस्मै राजर्षये प्रादाद् धनं स भगवान् प्रभुः ।
हैमं हिमवतः पादं यियक्षोर्विविधैः स्तवैः ।। (५५।३८)

श्लोक ५३

३१. **शुक्रः** । शिवपुराण रुद्रसंहिता के युद्धखण्ड में यह कथा वर्णित है कि भगवान् शंकर ने शुक्राचार्य की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर वरदान दिया—

अत्यर्कमत्यग्नि च ते तेजो व्योम्नि च तारकम् ।
देदीप्यमानं भविता ग्रहाणां प्रवरो भव ।। (५०।४४)

यह उल्लेखनीय है कि दैत्य-गुरु शुक्राचार्य ने यह कठोर तप भगवान् विश्वनाथ का ध्यान करते हुए वाराणसी में किया था और यहीं पर उनको 'मृतसंजीवनी' विद्या प्राप्त हुई थी।

श्लोक ५४

३२. **दक्षप्रसूतिमपि** । भगवान् शिव दक्ष के जामाता हैं, यह तो सब कोई जानते हैं, किन्तु ये दक्ष से उत्पन्न हुए हैं, यह बात कोई नहीं जानता । इस उक्ति का अभिप्राय यह है कि भगवान् का अर्धनारीश्वर स्वरूप प्रसिद्ध है । उनका आधा शरीर सतीमय है । इस आधे शरीर की उत्पत्ति दक्ष से होने के कारण भगवान् शिव भी दक्ष की प्रसूति हुए ।

श्लोक ५७

३३. **नन्दीश्वरस्य** । शिवपुराण की शतरुद्रसंहिता के ६-७ अध्यायों में नन्दीश्वर की कथा वर्णित है । शिलाद मुनि के पुत्र के रूप में भगवान् नन्दीश्वर अवतरित हुए थे । वे उनके अयोनिज पुत्र थे । शिलाद की पर्णशाला में वे मनुष्य का रूप धारण कर पहुंचे । मित्र एवं वरुण ने शिलाद की पर्णशाला में भविष्यवाणी की कि आपका शास्त्रमर्मज्ञ पुत्र अल्पायु है । यह सुन नन्दीश्वर ने उग्र तप किया । उन्हें दर्शन देते हुए भगवान् शिव ने कहा—'तुम्हें मृत्युभय कैसा ? तुम तो मेरे ही समान हो' । इतना कहकर शिव ने नन्दीश्वर को अपनी शिरोमाला पहना दी, जिससे वे द्वितीय शंकर से प्रतीत होने लगे ।

भक्तिस्तोत्रश्लोकार्धानुक्रमणी

—·—